॥ श्रीः ॥

गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थमाला

४०

श्रीसायणाचार्यविरचिता

ऋग्वेदभाष्यभूमिका

(हिन्दीव्याख्योपेता)

व्याख्याकार

डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा



चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं विक्रेता

वाराणसी दिल्ली

॥ श्रीः ॥

गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थमाला

४०



श्रीसायणाचार्यविरचिता

ऋग्वेदभाष्यभूमिका

(हिन्दीव्याख्योपेता)

व्याख्याकार

डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा



चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं विक्रेता

वाराणसी दिल्ली

प्रकाशक
चौखम्भा ओरियन्टालिया
पो० आ० चौखम्भा, पो० वाक्स नं० ३२
गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी–२२१००१ (भारत)
टेलीफोन : ६५८८९ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव
शाखा—बंगलो रोड, ९ यू० बी० जवाहर नगर
दिल्ली–११०००७
फोन : २२१६१७

तृतीय संस्करण १९८०
मूल्य रु० १०–००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा विश्वभारती
पो० बाक्स नं० १३९
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी
फोन : ६५४४४

GOKULDAS SANSKRIT SERIES
NO. 40

ṚGVEDA-BHĀṢYA-BHŪMIKĀ

OF

ŚRĪ SĀYAṆĀCĀRYA

With

Hindi Notes aad Commentary

by

Dr. VĪRENDRA KUMĀRA VARMĀ
Professor and Head Deptt. of Sanskrit,
Banaras Hindu University Varanasi

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
VARANASI DELHI

Publishers

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32

Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane

VARANASI-221001 (India)

Telephone : 65889 Telegram : Gokulotsav

Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar

DELHI-110007

Phone : 221617

Thrid Edition 1980

Price Rs. 10-00

Printers—Vidya Vilas Press, Varanasi.

प्रस्तावना

वैदिक यज्ञों के प्रतिपादक ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थ; आत्मा एवं परमात्मा-विषयक अलौकिक सिद्धान्तों के प्रतिष्ठापक उपनिषद् ग्रन्थ; सामाजिक रीतियों और व्यवस्थाओं पर अकुंठित निर्णय देने वाले श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्र; भाषा-विज्ञान के प्रतिपादक शिक्षा, व्याकरण एवं निरुक्त तथा अनेक भारतीय दर्शन—इन सभी शास्त्रों का उद्गम वैदिक संहिताओं से हुआ है। यह सब कुछ होते हुए भी यह जानकर आश्चर्य होता है कि इन वैदिक संहिताओं का अद्यावधि कोई सर्व-सम्मत व्याख्यान प्रस्तुत नहीं हुआ है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही इन ग्रन्थ-रत्नों के अर्थ को जानने का कार्य प्रारम्भ हो गया था और आज तक यह प्रयत्न अविरल गति से चल रहा है। वेद भारोपीय परिवार के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ हैं। मैक्समूलर प्रभृति अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों ने इनका समय १००० ई० पू० के लगभग माना है। यह सत्य है कि इतने प्राचीन समय में रचित ग्रन्थ का अर्थ समझना हम लोगों के लिए अत्यन्त कठिन है क्योंकि भाषा की कठिनता और भावों की गम्भीरता पग-पग पर हमारे मार्ग में बाधा उपस्थित करती है। पर यह कह कर हम अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते। आज से २७०० वर्ष पहले सप्तम शतक ई० पू० में यास्काचार्य के सामने भी वैदिक व्याख्यान की ऐसी ही समस्या उपस्थित थी। यास्क ने कम से कम सत्रह पूर्ववर्ती विद्वानों को उद्धृत किया है जिनके विचार बहुधा मेल नहीं खाते। इनके अतिरिक्त उन्होने स्थल-स्थल पर ऐतिहासिक, याज्ञिक, नैरुक्त, नैदान, आधिदैविक, आध्यात्मिक आदि अनेक व्याख्या-पद्धतियों को प्रस्तुत किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यास्क के समय भी वेदार्थ के सम्बन्ध में कोई अविच्छिन्न परम्परा उपलब्ध नहीं थी। कतिपय विद्वानों का तो यह मत था कि मन्त्रों का कोई अर्थ है ही नहीं क्योंकि स्थान-स्थान पर मन्त्र अस्पष्ट, निरर्थक एवं परस्पर-विरोधी हैं। ऐसे ही विद्वानों में एक कौत्स

थे जिनके मत को यास्क ने विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया है। यास्क ने अनेक युक्तियों के द्वारा कौत्स के पूर्वपक्ष का खण्डन करके अन्त में निर्दिष्ट किया है कि यह स्थाणु का दोष नहीं कि अन्धा इसे नहीं देखता, यह तो पुरुष का अपराध है। मन्त्र सार्थक हैं पर उनको समझने के लिए आवश्यकता है विवेक एवं परिश्रम की।

निरुक्त के विद्वान् टीकाकार दुर्गाचार्य ने निर्ऋति पद पर विचार करते हुए वेदार्थ के विषय में एक बड़े पते की बात कही है "विनियोग (प्रयोग) के अनुसार मन्त्र का अर्थ भिन्न हो सकता है। वक्ता (प्रयोक्ता) के अभिप्रायवश मन्त्र अन्य अर्थ का भी प्रतिपादन करते हैं। इन मन्त्रों में अर्थ की सीमा का निश्चय नहीं किया जा सकता। इनके महान् अर्थ होते हैं तथा इनका अर्थ जानना अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार अश्वारोह की विशिष्टता से अश्व अश्वारोह को साधुगति या साधुतर गति से ले जाता है, उसी प्रकार वक्ता की विशिष्टता से ये मन्त्र भी साधु या साधुतर अर्थों को प्रवाहित करते हैं। ऐसी वस्तु-स्थिति होने पर इस निरुक्त शास्त्र में एक-एक पद का निर्वचन लक्षण एवं उद्देश मात्र के हेतु किया जाता है। कहीं अध्यात्म, कहीं अधिदैव और कहीं अधियज्ञ अर्थों को दिखलाया जाता है। अतएव इन मन्त्रों में अधिदैव, अध्यात्म और अधियज्ञ को आश्रय करके जितने भी अर्थ उचित प्रतीत होते हों उन सबको निकालना चाहिए। ऐसा करने में कोई अपराध नहीं है[1]।" वास्तव में वेद उस कल्पवृक्ष के समान है जो मनुष्य को मुँहमाँगा पदार्थ प्रदान करता है। 'जाकी रही भावना जैसी' के अनुसार जिसने जिस दृष्टि से वेदों का मन्थन

---

१. तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यान्येनार्थेन भवितव्यम्। त एते वक्तुरभिप्रायवशादर्थान्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेष्वर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहत्येवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात्साधून्साधुतरांश्चार्थान्स्रवन्ति। तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवैतस्मिञ्छास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते। क्वचिच्चाध्यात्माधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम्। तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन्नधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः। नात्रापराधोऽस्ति। निरुक्त २।२ पर दुर्गभाष्य।

किया, वेद ने उसे खाली हाथ नहीं लौटने दिया। यही कारण है कि अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर आज तक वेदों के विषय में अनेक दृष्टियों से विचार किया गया है जिसके परिणामस्वरूप वेदों की अनेक प्रकार की व्याख्या-पद्धतियाँ मिलती हैं जिनमें से प्रत्येक ने अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार वैदिक शब्दों का भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्यान किया है। मुख्य व्याख्या-पद्धतियाँ ये हैं—याज्ञिक, सामाजिक, नैरुक्त, प्रतीकवाद, आध्यात्मिक, आधिदैविक और प्रकृति-परक। सायण के वेद-भाष्य याज्ञिक-पद्धति के ज्वलन्त उदाहरण हैं, इसलिए इस पद्धति के विषय में यहाँ कुछ कहना युक्त है।

यास्क ने अपने निरुक्त में याज्ञिकों का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। इस संप्रदाय के अनुसार वेद यज्ञ के लिए ही प्रवृत्त हैं। इस तथ्य का उल्लेख वेदाङ्ग ज्योतिष के कर्ता लगध ने भी किया है[1]। जैमिनीय ने तो डंके की चोट कहा है कि आम्नाय (वेद) का लक्ष्य क्रिया (यज्ञ) है और वेद के जिस अंश का यज्ञ से संबंध नहीं है वह अनर्थक है[2]। यज्ञीय विषयों के विमर्शन के लिये ही भारत में अत्यन्त प्राचीन काल में मीमांसा दर्शन की उत्पत्ति हो गई थी जिसमें प्रत्येक कठिन वैदिक स्थल की परीक्षा की गई है और यज्ञों में प्रतीयमान विरोधों का तर्क के साथ निराकरण किया गया है। याज्ञिक ब्राह्मण-ग्रन्थों को संहिता की अपेक्षा प्राधान्य प्रदान करते हैं क्योंकि इन ग्रन्थों में यज्ञों का सर्वाङ्गीण वर्णन हुआ है। संहिताओं के मन्त्र तो यज्ञ में अङ्गरूपेण प्रयुक्त होते हैं। भारतीय धर्म के इतिहास में यज्ञों का एक विचित्र युग था जिसमें आर्य लोग वेदों का नियमपूर्वक अध्ययन करके अग्नि-आधान के पश्चात् दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेध, सर्वमेध, पितृमेध प्रभृति यज्ञों के अनुष्ठान के द्वारा ऐहिक एवं पारलौकिक सुख एवं समृद्धि का सम्पादन करते थे। वैदिक व्याख्या-पद्धतियों में याज्ञिक-पद्धति का सर्वप्रथम

---

१. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानि-पूर्वा विहिताश्च यज्ञाः। वेदाङ्ग-ज्योतिष, श्लोक ३

२. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्। जैमिनीय सूत्र, १।२।१

स्थान रहा है। यही एक पद्धति है जिसके अनुसार सभी वेदों का सर्वाङ्गीण और क्रमबद्ध व्याख्यान हुआ है। याज्ञिक पद्धति का आश्रय लेकर ही अन्य संप्रदायविदों ने अपने विचारों को प्रस्तुत किया है।

वेद-भाष्यों की परम्परा अति प्राचीन है। सायण के पूर्ववर्ती मुख्य भाष्यकार ये हैं—माधवभट्ट, स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्‌गीथ, वेंकटमाधव (ऋग्वेद); भवस्वामी, गुहदेव, भट्टभास्कर (तैत्तिरीय संहिता); उवट, महीधर, हलायुध (शुक्ल यजुर्वेद); माधव, भरतस्वामी और गुणविष्णु (सामवेद)। किन्तु अब तक किसी भी भाष्यकार ने सभी वेदों पर भाष्य नहीं लिखा था। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सायण ने बड़ी विद्वत्ता एवं अगाध पाण्डित्य के साथ सम्पन्न किया। सायण के भाष्य परिमाण और सार दोनों ही दृष्टियों से सर्वोपरि हैं। सायण ने निम्नलिखित वैदिक ग्रन्थों पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे हैं—

अ—तैत्तिरीय संहिता; ऋग्वेद संहिता; सामवेद संहिता; अथर्ववेद संहिता।

आ—तैत्तिरीय ब्राह्मण; ऐतरेय ब्राह्मण; ताण्डय ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण, देवताध्याय ब्राह्मण, उपनिषद् ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, वंश ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण।

इ—तैत्तिरीय आरण्यक; ऐतरेय आरण्यक।

प्राचीन परम्परा पर आधृत होने के कारण सायण के भाष्य सर्वाधिक विश्वसनीय हैं। उनके भाष्यों की विशेषताओं को यहाँ संक्षेप में लिख देना अप्रासङ्गिक न होगा—

(१) ब्राह्मण-ग्रन्थों में जिन मन्त्रों अथवा शब्दों के विषय में जो सामग्री उपलब्ध होती है, उसे उन्होंने अपने भाष्य में ग्रहण किया है।

(२) यास्क द्वारा व्याख्यात मन्त्रों पर भाष्य लिखते समय इन्होंने यास्क की व्याख्या को पूर्णरूपेण उद्धृत किया है। निघण्टुगत उद्धरणों को लिखना तो वे कभी नहीं भूलते।

(३) अपने अर्थ की पुष्टि में वे इतिहास, पुराण, स्मृति आदि से भी यथावसर प्रमाण देते हैं।

(४) मन्त्र के व्याख्यान के अनन्तर वे पदों का निर्वचन; उनकी सिद्धि तथा स्वर–प्रक्रिया का प्रतिपादन करते हैं। ऋग्वेद के प्रथम अष्टक के अध्ययन से पता चलता है कि उनका व्याकरण का ज्ञान उच्च कोटि का था।

(५) सायण मीमांसादर्शन के प्रगाढ़ पण्डित थे। यज्ञों से उनका सविशेष परिचय था। याज्ञिक पद्धति से ही उन्होंने वेदों का व्याख्यान किया है।

(६) प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में उन्होंने उसके विनियोग, ऋषि, देवता और छन्द आदि का प्रतिपादन किया है। आदि आदि।

सायण की कृपा से वेदार्थ में प्रवेश करने वाले रॉथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने जब से सायण के भाष्य की आलोचना प्रारम्भ की, तब से सायण की आलोचना करना एक फैशन हो गया है। आजकल तो उच्च कोटि का वैदिक विद्वान् वही माना जाता है जो सायण के भाष्यों में अधिक से अधिक दोषों का उद्घाटन करता है। वैसे तो कोई भी मानवीय कृति सर्वथा दोषशून्य नहीं हो सकती किन्तु अधिकतर विद्वानों ने सायण के भाष्य में मिथ्या दोष निकाले हैं। हमारा तो इतना ही कहना है कि वेदों के अर्थ के विषय में आज हम जो जानते हैं, उसका सारा श्रेय सायण को ही है और इसके लिए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए। यदि सायण के भाष्य न होते तो हम वेद के दुर्गम दुर्ग में प्रवेश ही न कर पाते।

आचार्य सायण ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए अपने सभी भाष्यों के प्रारम्भ में अत्यन्त उपयोगी भूमिकायें लिखी हैं। इन भूमिकाओं के अध्ययन से सायण के सिद्धान्त भलीभाँति समझ में आ जाते हैं। इन भूमिकाओं में सायण ने मीमांसा के गूढ सिद्धान्तों को बड़ी सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। वेदों से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रतिपादन यहाँ सुन्दर शैली में किया गया है। इन भूमिकाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'ऋग्वेद-भाष्यभूमिका' को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है कि इससे पाठकों को लाभ होगा।

वीरेन्द्र कुमार वर्मा



संक्षेप-सूची

आप०	आपस्तम्ब	नि०	निरुक्त
आप० परि०	आपस्तम्ब परिभाषा	नृ० ता० उ०	नृसिंह तापनीय उप०
आश्व०श्रौ०सू०	आश्वलायन श्रौत सूत्र	पा० शि०	पाणिनीय शिक्षा
ऋ० सं०	ऋग्वेद संहिता	पा० सू०	पाणिनीय सूत्र
ऐ० आ०	ऐतरेय आरण्यक	बृ० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्
ऐ० उ०	ऐतरेय उपनिषद्	बृ० उ० वा०	बृह० उप० वार्तिक
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण	ब्र० सू०	ब्रह्म सूत्र
का० अ०	कात्यायन अनुक्रमणी	ब्र०सू०शां०भा०	ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्	मनु०	मनुस्मृति
जै० न्या० मा०	जै० न्यायमालाविस्तर	मु० उ०	मुण्डक उपनिषद्
जै० सूत्र	जैमिनीय सूत्र	मै० सं०	मैत्रायणी संहिता
ता० ब्रा०	ताण्ड्य ब्राह्मण	या० स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक	वा० सं०	वाजसनेयी संहिता
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण	श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता	शा० भा०	शाबर भाष्य



विषय-सूची



सायणाचार्यकृता

ऋग्वेदभाष्यभूमिका

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम्॥ १॥
यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥ २॥
यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः।
आदिशन् माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने॥ ३॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात्।
कृपालुर्माधवाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः॥ ४॥
आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते॥ ५॥
एतस्मिन् प्रथमोऽध्यायः श्रोतव्यः संप्रदायतः।
व्युत्पन्नस्तावता सर्वं बोद्धुं शक्नोति बुद्धिमान्॥ ६॥

---

१. ब्रह्मा आदि देवता समस्त कार्यों के प्रारम्भ में जिनको नमस्कार करके कृतकृत्य (कार्यों में सफल) हुए, उन गजानन (हाथी के मुख वाले गणेश) को मैं नमस्कार करता हूँ।

२. वेद जिनके निःश्वास हैं और जिन्होंने वेदों से समस्त जगत् को बनाया है, उन विद्यातीर्थ रूपी महेश्वर (परमात्मा) की मैं वन्दना करता हूँ।

३. जिन विद्यातीर्थ गुरु के निर्देश (कटाक्ष, प्रेरणा) से उनके रूप (परमात्मा के रूप) को धारण करते हुए बुक्क राजा ने वेदों का अर्थ प्रकाशित करने के लिए माधवाचार्य को आदेश दिया। (गुरु और राजा को परमेश्वर का रूप माना जाता है)।

४. पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा की अति संक्षेप में व्याख्या करके कृपालु माधवाचार्य वेद के अर्थ की व्याख्या करने के लिए उद्यत हुए।

५. यज्ञों में आध्वर्यव (अध्वर्यु नामक ऋत्विक् के कर्म) की प्रधानता होने के कारण प्रथम यजुर्वेद का व्याख्यान किया, इसके अनन्तर अब हौत्र (होता नामक ऋत्विक् के कर्म) के निमित्त ऋग्वेद का व्याख्यान किया जायेगा।

६. इस ऋग्वेद में प्रथम अध्याय संप्रदाय के अनुसार श्रोतव्य है, इतना सुनने से ज्ञानवान् होकर बुद्धिमान् सम्पूर्ण ऋग्वेद को समझने में समर्थ हो सकता है।

अत्र केचिदाहुः—ऋग्वेदस्य प्राथम्येन सर्वत्राम्नातत्वात् 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' इति न्यायेन अभ्यर्हितत्वात् तद्व्याख्यानमादौ युक्तम्। प्राथम्यं च पुरुषसूक्ते विस्पष्टम्—

'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत' ॥
(ऋ० सं० १०।९०।९) इति।

तस्मात् 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (ऋ० १०।९०।१) इत्युक्तात् परमेश्वरात, यज्ञात् यजनीयात् पूजनीयात्। सर्वहुतः सर्वैर्हूयमानात्। यद्यपीन्द्रादय-स्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैव इन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः।

तथा च मन्त्रवर्णः—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' ॥
(ऋ० सं० १।१६४।४६) इति।

वाजसनेयिनश्चामनन्ति—'तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमे-

---

पूर्वपक्ष—अभ्यर्हित (सर्वाधिक सम्मानित) होने के कारण ऋग्वेद का व्याख्यान पहले होना चाहिए था।

आचार्य सायण ने पहले यजुर्वेद का व्याख्यान किया। अब वे ऋग्वेद का व्याख्यान करेंगे। इस पर कतिपय लोगों का कहना है कि जहाँ कहीं भी वेदों का प्रसङ्ग आया है वहाँ ऋग्वेद का सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है। 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' (सर्वाधिक सम्मानित का ही सर्वप्रथम उल्लेख होता है) इस न्याय के अनुसार सर्वत्र सर्वप्रथम उल्लिखित होने के कारण ऋग्वेद सर्वाधिक सम्मानित हैं। इसलिए सर्वाधिक सम्मानित होने के कारण ऋग्वेद का ही सर्वप्रथम व्याख्यान होना चाहिए था।

'सर्वत्र ऋग्वेद का ही सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है' इस कथन की पुष्टि करते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि ऋग्वेद का सर्वप्रथम उल्लिखित होना तो पुरुषसूक्त में पूर्णरूपेण स्पष्ट है—'सहस्रशीर्षा पुरुषः' आदि मन्त्रों में वर्णित उस पूजनीय तथा सभी लोगों के द्वारा आह्वान किए जाने वाले (बुलाये जाने वाले) परमेश्वर से ऋचायें तथा साम उत्पन्न हुए, उससे अथर्ववेद (छन्दांसि) उत्पन्न हुआ, उससे यजुष् उत्पन्न हुआ।

यहाँ पर कोई यह आपत्ति कर सकता है कि यज्ञ में तो इन्द्र आदि अनेक

तस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः।' (बृ० उ० १।४।६) इति। तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते।

न केवलमृचां पाठप्राथम्येनाभ्यर्हितत्वं किंतु यज्ञाङ्गदार्ढ्यहेतुत्वादपि। तथा च तैत्तिरीया आमनन्ति—'यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद् यद् ऋचा तद् दृढम्।' (तै० सं० ६।५।१०।३) इति।

तथा च सर्ववेदगतानि ब्राह्मणानि स्वाभिहितेऽर्थे विश्वासदार्ढ्याय 'तदेतद् ऋचाभ्युक्तम्' इति ऋचमेवोदाहरन्ति। मन्त्रकाण्डेष्वपि यजुर्वेदगतेषु तत्र तत्राध्वर्युणा प्रयोज्या ऋचो बह्व आम्नाताः। साम्नां तु

देवताओं का आह्वान किया जाता है। तब यह कैसे कहा गया है कि सभी लोगों के द्वारा परमेश्वर का ही आह्वान किया जाता है। इसका उत्तर हैं कि यद्यपि यज्ञ में इन्द्र आदि देवताओं का आह्वान किया जाता है, तथापि वहाँ परमेश्वर ही इन्द्र आदि रूप में अवस्थित होता है। इस प्रकार वहाँ कोई विरोध नहीं हैं। जैसा कि इस मन्त्र में कहा गया है—'उसी एक सत्ता को कोई इन्द्र कह लेता है, कोई मित्र, कोई वरुण, कोई अग्नि, और कोई उसकी पूजा दिव्य सुपर्ण (अच्छे पंखो वाला) गरुड़ कह कर लेता है। तत्त्व एक परमेश्वर ही है। उसे अग्नि कह लो, यम कह लो, मातरिश्वा (वायु) कह लो। इससे कोई भेद नहीं आता'।

वाजसनेयी शाखा के अध्येता भी इसी प्रकार कहते हैं—'एक-एक देवता को उद्दिष्ट करके जो यह कहा गया है कि 'इसका यजन करो' 'इसका यजन करो' वह सब इसकी (परमेश्वर की) ही विसृष्टि (रचना है), क्योंकि वही सब देवताओं के रूप में अवस्थित है।' उपर्युक्त इन उदाहरणों से स्पष्ट हो गया कि सर्वत्र परमेश्वर का ही आह्वान किया जाता है।

इस प्रकार पाठ-प्राथम्य से सिद्ध हो गया कि चारों वेदों में ऋग्वेद सर्वाधिक सम्मानित (अभ्यर्हित) है।

इसके उपरान्त पूर्वपक्षी का कहना है कि ऋग्वेद का सर्वाधिक सम्मानित होना न केवल ऋचाओं के पाठ-प्राथम्य से ही सिद्ध होता है अपितु यज्ञ के अङ्गों को दृढ़ करने के कारण भी उसका सर्वाधिक सम्मानित होना सिद्ध होता है। जैसा कि कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अध्येता घोषित करते हैं—'यज्ञ का जो कार्य साम या यजु के द्वारा किया जाता है वह शिथिल होता है; किन्तु जो ऋक् द्वारा किया जाता है वह दृढ़ होता है।'

उसी प्रकार सभी वेदों के ब्राह्मण अपने द्वारा कथित अर्थ (तथ्य) में विश्वास को दृढ़ करने के लिए 'यही बात ऋचा ने भी कही है' यह कहकर ऋचा को ही

सर्वेषामृगाश्रितत्वं प्रसिद्धम्। आथर्वणिकैरपि स्वकीयसंहितायामृच एव बाहुल्येनाधीयन्ते। अतोऽन्यैः सर्वैर्वेदैरादृतत्वादभ्यर्हितत्वं प्रसिद्धम्—

छन्दोगाश्च प्राथम्ये सनत्कुमारं प्रति नारदवाक्यमेवमामनन्ति—'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' (छा० उ० ७।१।२) इति। मुण्डकोपनिषद्यपि एवमाम्नायते—'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः' (मु० उ० १।१।५) इति। तापनीयोपनिषद्यपि मन्त्रराजपादेषु क्रमेणाध्ययनमेवमामनन्ति—'ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति' (नृ० ता० उ० १।२) इति।

एवं सर्वत्र उदाहरणीयम्। तस्मात् ऋग्वेदस्याभ्यर्हितस्यादौ व्याख्यानमुचितमिति।

तान् प्रति एतदुच्यते—

अस्तु एवं सर्ववेदाध्ययनतत्पारायणब्रह्मयज्ञजपादौ ऋग्वेदस्यैव

उदाहरण के रूप में देते हैं। यजुर्वेद के मन्त्र-काण्डों में भी स्थान-स्थान पर अध्वर्यु के द्वारा प्रयोग करने के हेतु अनेक ऋचायें उल्लिखित हैं। सभी सामों का तो ऋगाश्रित होना प्रसिद्ध ही हैं। अथर्ववेद के अनुयायी भी अपनी संहिता में अधिकतर ऋचाओं का ही पाठ करते हैं। इसलिए अन्य सभी वेदों द्वारा आदृत होने के कारण भी यह सिद्ध हो गया कि ऋग्वेद सर्वाधिक सम्मानित (सर्वश्रेष्ठ) वेद है।

अब उपनिषदों को देखिए। छान्दोग्योपनिषद् के अध्येता ऋग्वेद के प्राथम्य को दृष्टि में रखकर ही सनत्कुमार के प्रति नारद के वाक्य को इस प्रकार अभिहित करते हैं—'हे भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद का अध्ययन कर लिया है।' मुण्डकोपनिषद् में भी इस प्रकार कहा गया है—'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद।' तापनीयोपनिषद् में भी मन्त्रराज के पादों में क्रम से अध्ययन का इस प्रकार उल्लेख किया गया है—'शाखाओं और अङ्गों सहित ऋक्, यजु, साम और अथर्व ये चार वेद मन्त्रराज के चार पाद हैं।

इस प्रकार सर्वत्र ऐसे ही उदाहरण दिखाई पड़ते हैं। इसलिए सर्वाधिक सम्मानित ऋग्वेद का आदि में (सर्वप्रथम) व्याख्यान करना उचित था।

उत्तर पक्ष—सर्वप्रथम यजुर्वेद का व्याख्यान उचित है—

पूर्वपक्षी के आरोपों का खण्डन करते हुए सायण कहते हैं कि जहाँ तक समस्त वेदों के अध्ययन, उनके पारायण, ब्रह्मयज्ञ जप आदि का प्रश्न है वहाँ निःसन्देह ऋग्वेद का ही प्राथम्य है किन्तु अर्थज्ञान तो यज्ञ के अनुष्ठान के लिए होता है और जहाँ तक यज्ञानुष्ठान का प्रश्न है उसके लिए तो यजुर्वेद ही सर्वप्रधान है। इसलिए प्रारम्भ (आदि) में जो यजुर्वेद का व्याख्यान किया

प्राथम्यम् । अर्थज्ञानस्य तु यज्ञानुष्ठानार्थत्वात् तत्र तु यजुर्वेदस्यैव प्रधानत्वात् तद्व्याख्यानमेवादौ युक्तम् । तत्प्राधान्यं च काचिदृगेव आह—

'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥

(ऋ० १०।७१।११) इति ।

एतस्या ऋचस्तात्पर्यं निरुक्तकारो यास्कः संक्षिप्य दर्शयति—'इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे' । पुनरपि स एव प्रथमं पादं विवृणोति—'ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होतर्गर्चनी' (नि० १।८) इति । अस्यायमर्थः—त्वशब्द एकशब्दपर्यायो होतृविशेषणम् । होतृनामक एक ऋत्विक् यज्ञकाले स्वकीयवेदगतानामृचां पुष्टिं कुर्वन्नास्ते । भिन्नप्रदेशेष्वाम्नातामृचां सङ्घमेकत्र सम्पाद्यैतावदिदं शस्त्रमिति क्लृप्तिं करोति सेयं पुष्टिः । अर्चनीत्यमुमर्थमृक्शब्द आचष्टे । अर्च्यते प्रशस्यतेऽनया देवविशेषः क्रियाविशेषस्तत्साधनविशेषो वा इति ऋक्शब्दव्युत्पत्तिरिति ।

गया है वह सर्वथा युक्त है । यजुर्वेद का प्राधान्य तो एक ऋचा (ऋग्वेद के मन्त्र) ने ही बतलाया है—'ऋत्विजों में से एक होता नामक ऋत्विक् ऋचाओं की पुष्टि करता है । अन्य एक उद्गाता नामक ऋत्विक् शक्वरी नामक ऋचाओं पर गायत्र नामक सामों का गान करता है । ब्रह्मा नामक ऋत्विक् समय-समय पर अनुज्ञा देता है । अध्वर्यु नामक एक ऋत्विक् यज्ञ के सम्पूर्ण स्वरूप का निष्पादन करता है ।'

इस ऋचा का तात्पर्य निरुक्तकार यास्क संक्षेप में बतलाते हुए कहते हैं कि यह ऋक् ऋत्विजों के कर्मों का विनियोग बतलाती हैं । तदुपरान्त वे ही प्रथम पाद का निरूपण करते हैं—'होता नामक एक ऋत्विक् यज्ञ में ऋचाओं की पुष्टि करता है । ऋक् का अर्थ है अर्चनी ।'

इसका यह अर्थ है—त्व शब्द एकशब्द का पर्यायवाची है (अर्थात् त्व का अर्थ है एक) और यह त्व शब्द होता का विशेषण है । होता नामक एक ऋत्विक् यज्ञ के समय अपने वेद (ऋग्वेद) की ऋचाओं की पुष्टि करता है अर्थात् ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न प्रदेशों (स्थलों) में अभिहित (आम्नात) ऋचाओं का एकत्र समूह बनाकर 'इतना यह शस्त्र है' यह निश्चय करता है । ऐसा करने को ही पुष्टि कहते हैं । ऋक् शब्द 'अर्चनी' इस अर्थ को बतलाता है । ऋक् शब्द की व्युत्पत्ति यह है 'इसके द्वारा किसी देवताविशेष, क्रियाविशेष अथवा उसके साधनविशेष की प्रशंसा अथवा पूजा की जाती है ।'

अथ द्वितीयं पादं विवृणोति—'गायत्रमेको गायति शक्करीषूद्गाता। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः। शक्वर्य ऋचः शक्नोतेस्तद् यदाभिर्वृत्रमशकद् हन्तुं तच्छक्करीणां शक्करीत्वमिति विज्ञायते' इति। अस्यायमर्थः—उद्गातृनामकः एकः ऋत्विक् गायत्रशब्दाभिधेयं स्तोत्रं शक्करीशब्दाभिधेयास्वृक्षु गायति। धातूनामनेकार्थत्वेन स्तुतिक्रियावाचिनो गायतिधातोरुत्पन्नोऽयं गायत्रशब्दः। शक्करीशब्दस्तु शक्नोतिधातोरुत्पन्नः। वृत्रं हन्तुं शक्नोति आभिर्ऋग्भिरित्येषा व्युत्पत्तिः कस्मिंश्चित् ब्राह्मणे विज्ञायते इति।

अथ तृतीयं पादं विवृणोति—'ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति' इति। अस्यायमर्थः—ब्रह्मनामकः एकः ऋत्विक् जाते जाते तदा तदा उत्पन्ने यज्ञे प्रस्तुते प्रणयनादिकर्मणि विद्याम् अनुज्ञां वदति, 'ब्रह्मन् अपः प्रणेष्यामि' इत्येवं संबोधितः सन् 'ओम् प्रणय' इत्यनुजानाति। स च ब्रह्मा वेदत्रयोक्तसर्वकर्माभिज्ञः। तस्मात् योग्यतां दृष्ट्वा तत्तदनुज्ञातुं सति प्रसादे समाधातुं च समर्थः

इसके अनन्तर यास्क द्वितीय पाद का निरूपण करते हैं—'एक उद्गाता नामक ऋत्विक् शक्करी नामक ऋचाओं पर गायत्र नामक साममन्त्रों का गान करता है। स्तुत्यर्थक 'गै' धातु से गायत्र शब्द बना है। शक्करी नामक ऋचायें हैं, शक् धातु से यह शब्द बना है। जो इन्द्र इन ऋचाओं से वृत्र को मार सका था वही इन शक्करियों का शक्करीत्व है अर्थात् मार सकने के कारण ही इन ऋचाओं का नाम शक्करी पड़ा है।' इसका यह अर्थ है—उद्गाता नामक ऋत्विक् गायत्र नामक स्तोत्र को शक्करी नामक ऋचाओं में गान करता है। यद्यपि 'गै' धातु का अर्थ है 'शब्द करना' तथापि धातुओं के अनेक अर्थ होने से गायत्र शब्द स्तुत्यर्थक 'गायति' धातु से निष्पन्न हुआ है। शक्करी शब्द तो 'शक्नोति' (शक्) धातु से निष्पन्न है और इनके शक्करी नाम पड़ने का कारण यह है कि इन्द्र इन ऋचाओं से अपने शत्रु वृत्र को मार सका था। यह व्युत्पत्ति किसी ब्राह्मण में बतलाई गई है।

इसके अनन्तर यास्क तृतीय पाद का निरूपण करते हैं—'ब्रह्मा नामक एक ऋत्विक् समय-समय पर प्रसङ्गानुकूल अनुज्ञा देता है। ब्रह्मा सर्वविद् होता है, वह यज्ञ के विषय में सब कुछ जानता है, इसका यह अर्थ है कि ब्रह्मा नामक एक ऋत्विक् यज्ञ के अवसर पर जब-जब प्रणयनादि कर्मों का प्रसङ्ग प्रस्तुत होता है तब-तब विद्या अर्थात् अनुज्ञा (आज्ञा, अनुमति) देता है। उदाहरण के तौर पर जब उसको संबोधित करके कहा जाता है 'ब्रह्मन् अपः प्रणेष्यामि' (हे ब्रह्मन्! मैं जल ले आऊँ) तब वह 'ओम् प्रणय' (हाँ ले आओ) कहकर

इति। तच्च सामर्थ्यं छन्दोगा आमनन्ति—'एष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी, तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा, वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतराम्' (छा० उ० ४।१६।१-२) इति। कृत्स्नो यज्ञः प्रमादराहित्याय मनसा सम्यगनुसंधेयो, वाचा च वेदत्रयोक्तमन्त्राः पठनीयाः। तत्र होत्रादयस्त्रयो मिलित्वा वाग्रूपं यज्ञमार्गं संस्कुर्वन्ति। ब्रह्मा तु एक एव मनोरूपं यज्ञमार्गं कृत्स्नमपि संस्करोति। तस्मादस्यास्ति सामर्थ्यमिति।

अथ चतुर्थं पादं विवृणोति—'यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युः। अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेता' इति। अस्यायमर्थः—अध्वर्युनामकः एकः ऋत्विक् यज्ञस्य मात्रां स्वरूपं विमिमीते विशेषेण निष्पादयति। मीयते निर्मीयते इति मात्रा स्वरूपम्। तन्निष्पादकत्वं च अध्वर्योर्नामनिर्वचनादवगम्यते। 'अध्वर्युः' इत्यत्र छान्दस्या प्रक्रियया

अनुज्ञा देता है। और उस ब्रह्मा को तीनों वेदों में कहे गये सभी कर्मों का ज्ञान होता है। अतएव (ऋत्विजों की) योग्यता को देखकर उन-उन कर्मों की अनुज्ञा देने के लिए तथा प्रमाद (त्रुटि) होने पर उसका समाधान करने (ठीक करने) के लिए ब्रह्मा समर्थ होता है। ब्रह्मा की उस सामर्थ्य के विषय में छन्दोग (सामवेदी) लोगों का कहना है 'यही यज्ञ है। वाणी तथा मन इस यज्ञ के मार्ग हैं। उनमें से एक मार्ग का संस्कार ब्रह्मा मन के द्वारा करता है और दूसरे का संस्कार होता, अध्वर्यु और उद्गाता वाणी के द्वारा करते हैं।' त्रुटियों से बचने के लिए सम्पूर्ण यज्ञ का मन के द्वारा सम्यक् निरीक्षण (सावधानी से देखना) करना चाहिए और वाणी के द्वारा तीनों वेदों में कहे गए मन्त्रों का पाठ करना चाहिए। होता, उद्गाता और अध्वर्यु ये तीनों मिलकर वाग्रूप यज्ञमार्ग का संस्कार करते हैं। ब्रह्मा तो अकेला ही सम्पूर्ण मनोरूप यज्ञमार्ग का संस्कार करता है। इसलिए ब्रह्मा का सामर्थ्य सिद्ध होता है।

इसके अनन्तर यास्क चतुर्थ पाद का निरूपण करते हैं—'अध्वर्यु नामक एक ऋत्विक् यज्ञ के संपूर्ण स्वरूप का निष्पादन करता है। अध्वर्यु और अध्वरयु दोनों होते हैं। वेद में अकार का लोप होकर अध्वर्यु हो गया। व्युत्पत्ति इस प्रकार है—अध्वरं युनक्ति—यज्ञ को जोड़ता है (यज्ञ को निष्पन्न करता है) अर्थात् वह यज्ञ का नेता होता है।' इसका यह अर्थ है—अध्वर्यु नामक एक ऋत्विक् यज्ञ की मात्रा अर्थात् स्वरूप का निर्माण करता है अर्थात् विशेष रूप से निष्पन्न करता है। मीयते = निर्मीयते इस निर्वचन से मात्रा शब्द का अर्थ यहाँ स्वरूप है। अध्वर्यु की यज्ञ-निष्पादकता (अर्थात् अध्वर्यु यज्ञ के स्वरूप का निष्पादन करता है यह तथ्य) तो अध्वर्यु नाम के निर्वचन से ही ज्ञात हो जाती है। छान्दस (वैदिकी) प्रक्रिया के अनुसार 'अध्वर्यु' में लुप्त अकार

लुप्तमकारं पुनः प्रक्षिप्य 'अध्वरयुः इति नाम संपादनीयम्। अध्वरं युनक्ति इति अवयवार्थः। अध्वरस्य नेता इति तात्पर्यार्थं इति। एतदेवाभिप्रेत्य अध्वर्युवेदस्य यागनिष्पादकत्वद्योतकं निर्वचनं यास्को दर्शयति 'मन्त्रा मननात्, छन्दांसि छादनात्, स्तोमः स्तवनात् यजुर्यजतेः' (नि० ७।१२) इति।

एवं सति अध्वर्युसंबन्धिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तदपेक्षितौ स्तोत्रशस्त्ररूपौ अवयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्यते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम्। तत ऊर्ध्वं साम्नामृगाश्रितत्वात् उभयोर्मध्ये प्रथमत ऋग्व्याख्यानं युक्तम् इति ऋग्वेद इदानीं व्याख्यायते।

ननु वेद एव तावन्नास्ति, कुतस्तदवान्तरविशेष ऋग्वेदः ? तथाहि, कोऽयं वेदो नाम ? न हि तत्र लक्षणं प्रमाणं वास्ति। न च तदुभयव्यतिरेकेण किञ्चिद् वस्तु प्रसिध्यति। 'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' इति न्यायविदां मतम्।

का पुनः प्रक्षेप करके (रखकर) 'अध्वरयु' यह नाम सम्पन्न करना चाहिए। अब इसका अवयवार्थ होगा 'अध्वर (यज्ञ) को जो निष्पन्न करता है' और तात्पर्यार्थ होगा 'अध्वर (यज्ञ) का नेता।' इसी अभिप्राय से यास्क ऐसा निर्वचन करते हैं जिससे अध्वर्युवेद (यजुर्वेद) की यागनिष्पादकता द्योतित होती है—'मनन से मन्त्र कहलाये' 'छादन करने से छन्द कहलाये' (मृत्यु से डरते हुए देवताओं ने अपने को इन छन्दों से ढक लिया था अतः इनका नाम छन्द पड़ा)। 'स्तुति (स्तवन) करने से स्तोम नाम पड़ा।' 'यजन क्रिया के योग से यजुः नाम पड़ा।

ऐसी वस्तुस्थिति होने पर अध्वर्यु संबन्धी यजुर्वेद में निष्पन्न यज्ञशरीर (यज्ञस्वरूप) को उपजीवी (आश्रय) मानकर उसमें अपेक्षित स्तोत्र और शस्त्र रूप दो अवयव अन्य दो वेदों—सामवेद और ऋग्वेद—के द्वारा पूरे किए जाते हैं। अतएव उपजीव्य (आश्रयभूत) यजुर्वेद का आदि में जो व्याख्यान किया गया है वह सर्वथा युक्त है। उसके बाद सामों के ऋगाश्रित होने के कारण सामवेद और ऋग्वेद इन दोनों में पहले ऋग्वेद का व्याख्यान करना युक्त है। इसलिए अब ऋग्वेद की व्याख्या की जाती है।

पूर्वपक्ष—वेद का अस्तित्व नहीं है।

वेद नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, तब उसके अवान्तरविशेष ऋग्वेद की सत्ता कैसे। क्योंकि, बतलाओ तो सही कि यह वेद क्या है ? इसका न कोई लक्षण है और न कोई प्रमाण है। और इन दोनों—लक्षण और प्रमाण के बिना किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि, न्यायशास्त्र के ज्ञाताओं का मत है कि लक्षण और प्रमाण के द्वारा ही वस्तु की सिद्धि होती है।

प्रत्यक्षानुमानागमेषु प्रमाणविशेषेषु अन्तिमो वेद इति तल्लक्षणमिति चेत्। न, मन्वादिस्मृतिषु अतिव्याप्तेः। 'समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनम्' इत्येतस्यागमलक्षणस्य तास्वपि सद्भावात्।

'अपौरुषेयत्वे सति' इति विशेषणाददोषः इति चेत्। न, वेदस्यापि परमेश्वरनिर्मितत्वेन पौरुषेयत्वात्।

शरीरधारिपुरुषनिर्मितत्वाभावात् अपौरुषेयत्वम् इति चेत्। न, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (ऋ० १०।९०।१) इत्यादिश्रुतिभिरीश्वरस्यापि शरीरित्वात्।

कर्मफलरूपशरीरधारिजीवनिर्मितत्वाभावमात्रेण अपौरुषेयत्वं विवक्षितमिति चेत्। न, जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्।

यदि तुम वेद का यह लक्षण करते हो कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन प्रमाणविशेषों में वेद अन्तिम प्रमाण (आगम) है तो यह युक्त नहीं क्योंकि मनु आदि के द्वारा निर्मित स्मृति-ग्रन्थों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। 'संकेत के बल से जो भलीभाँति परोक्ष पदार्थ के ज्ञान का साधन हो वह आगम प्रमाण होता है' आगम प्रमाण का यह लक्षण तो उन स्मृतियों में भी घट जाता है।

अतिव्याप्ति दोष से बचने के लिए तुम अपौरुषेय विशेषण को जोड़ कर यह लक्षण बनाते हो कि जो अपौरुषेय होने पर आगम प्रमाण (अन्तिम प्रमाण) हो वह वेद है, तो भी युक्त नहीं। क्योंकि, परमेश्वर के द्वारा निर्मित होने के कारण वेद भी पौरुषेय हैं। परमेश्वर भी पुरुष विशेष है।

यदि तुम कहो कि शरीर को धारण करने वाले किसी पुरुष के द्वारा निर्मित न होने से वेद अपौरुषेय है अर्थात् वेद का निर्माण करने वाला परमेश्वर शरीर को धारण करने वाला जीव नहीं है, इसलिए ऐसे परमेश्वर के द्वारा निर्मित होने से वेद अपौरुषेय हैं, तो भी युक्त नहीं क्योंकि, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि श्रुतियों से ज्ञात होता है कि ईश्वर भी शरीरी (शरीर को धारण करने वाला) है।

यदि तुम कहो कि पूर्वजन्म के कर्म के फलस्वरूप शरीर धारण करने वाले जीव द्वारा निर्मित न होना मात्र ही यहाँ अपौरुषेयत्व से विवक्षित है, तो यह युक्त नहीं। क्योंकि, अग्नि, वायु, आदित्य इन जीवविशेषों के द्वारा वेदों की उत्पत्ति हुई है। 'ऋग्वेद अग्नि से, यजुर्वेद वायु से और सामवेद आदित्य से उत्पन्न हुआ' इस श्रुति से ज्ञात होता है कि अग्नि आदि का प्रेरक होने के कारण

'ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्' (ऐत० ब्रा० ५।३२) इति श्रुतेः ईश्वरस्य अग्न्यादिप्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यम्।

मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेद इति चेत्। न, ईदृशो मन्त्रः ईदृशं ब्राह्मणमित्यनयोरद्याप्यनिर्णीतत्वात्। तस्मान्नास्ति किञ्चिद् वेदस्य लक्षणम्।

नापि तत्सद्भावे प्रमाणं पश्यामः। 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' (छा० उ० ७।१।२) इत्यादिवाक्यं प्रमाणमिति चेत्। न, तस्यापि वाक्यस्य वेदान्तःपातित्वेन आत्माश्रयत्वप्रसङ्गात्। न खलु निपुणोऽपि स्वस्कन्धमारोढुं प्रभवति।

'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयस्करः परः' (या० स्मृ० १।४०) इत्यादिस्मृतिवाक्यं प्रमाणमिति चेत्। न, तस्यापि उक्तश्रुतिमूलत्वेन निराकृतत्वात्।

ईश्वर को वेद का निर्माता कहा गया है। वेद की उत्पत्ति तो अग्नि, वायु और आदित्य—इन जीवविशेषों—के द्वारा ही हुई है। अतः वेद कथमपि अपौरुषेय नहीं हो सकता।

अब यदि वेद का यह दूसरा लक्षण करते हो कि मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्द-राशि को वेद कहते हैं, तो युक्त नहीं। क्योंकि, आज तक भी यह निर्णय नहीं हो सका है कि ऐसा मन्त्र होता है और ऐसा ब्राह्मण होता है। इसलिए यह सिद्ध हो गया कि वेद का कोई लक्षण नहीं है।

वेद के अस्तित्व में कोई प्रमाण भी नहीं देखते हैं। यदि वेद के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' इस उपनिषद्वाक्य को प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हो तो युक्त नहीं। क्योंकि, यह वाक्य वेद के अन्तर्गत पड़ता है और इसे प्रमाण मानने में आत्माश्रय दोष का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा। वेद के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए वेद के वाक्य को प्रमाण नहीं माना जा सकता। अत्यधिक निपुण व्यक्ति भी अपने कंधे पर नहीं चढ़ सकता।

यदि याज्ञवल्क्य स्मृति के इस वाक्य 'वेद ही द्विजातीयों के निःश्रेयस का सर्वश्रेष्ठ साधन है' को प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हो तो यह भी युक्त नहीं। क्योंकि, स्मृतिवाक्य का मूल (आधार) तो वेद ही होता है, जिसके परिणाम-स्वरूप स्मृतिवाक्य को वेद के अस्तित्व में प्रमाण नहीं माना जा सकता। जब मूल (वेद) ही अप्रमाण हैं तब मूलाश्रित (वेद पर आश्रित) स्मृति वाक्य भी अप्रमाण होगा। वेद पर आधृत स्मृतिवाक्य को वेद के अस्तित्व में प्रमाण मानने पर भी आत्माश्रय दोष का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है।

प्रत्यक्षादिकं तु शङ्कितुमप्ययोग्यम्। वेदविषया तु लोकप्रसिद्धिः सार्वजनीनापि 'नीलं नभः' इत्यादिवत् भ्रान्ता। तस्मात् लक्षणप्रमाण-रहितस्य वेदस्य सद्भावो नाङ्गीकर्त्तुं शक्यते इति पूर्वः पक्षः।

अत्रोच्यते। मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं तावददुष्टं लक्षणम्। अत एव आपस्तम्बो यज्ञपरिभाषायामेवमाह—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आप० परि० १।३३) इति। तयोस्तु स्वरूपमुपरिष्टान्निर्णेष्यते। अपौरुषेयवाक्यत्वमितीदमपि यादृशमस्माभिर्विवक्षितं तादृशमुत्तरत्र स्पष्टीभविष्यति। प्रमाणान्यपि यथोक्तश्रुतिस्मृतिलोकप्रसिद्धिरूपाणि वेदसद्भावे द्रष्टव्यानि। यथा घटपटादिद्रव्याणां स्वप्रकाशकत्वाभावेऽपि सूर्यचन्द्रादीनां स्वप्रकाशकत्वमविरुद्धम्, तथा मनुष्यादीनां स्वस्कन्धारोहासंभवेऽपि अकुण्ठितशक्तेर्वेदस्य इतरवस्तुप्रतिपादकत्ववत् स्वप्रतिपादकत्वमप्यस्तु। अत एव संप्रदायविदोऽकुण्ठितां शक्तिं वेदस्य दर्शयन्ति—'चोदना हि

वेद के अस्तित्व में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तो शङ्का करना भी उचित नहीं है। यदि तुम कहो कि वेद के विषय में लोकप्रसिद्धि प्रमाण है क्योंकि सभी लोगों में यह बात प्रचलित है कि वेद का अस्तित्व है, तो हमारा कहना है कि वेदविषयक लोकप्रसिद्धि सार्वजनीन (सार्वलौकिक) होने पर भी उसी प्रकार भ्रान्त है जिस प्रकार 'आकाश नीला है' यह लोकप्रसिद्धि भ्रान्त है। इसलिए लक्षण और प्रमाण से रहित वेद का अस्तित्व कथमपि अङ्गीकार (स्वीकार) नहीं किया जा सकता। यहाँ पूर्वपक्ष समाप्त हुआ।

उत्तर पक्ष—वेद का अस्तित्व है।

इस विषय में कहते हैं—'मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दराशि को वेद कहते हैं' यह जो वेद का लक्षण किया गया है वह सर्वथा दोषरहित है। इसीलिए आपस्तम्ब ने अपनी यज्ञपरिभाषा में इस प्रकार कहा है—'मन्त्र और ब्राह्मण इन दोनों का नामधेय वेद है।' इन दोनों के स्वरूप का निर्णय तो आगे किया जायेगा। वेद को जो अपौरुषेय वाक्य कहा जाता है वह जैसा हमें विवक्षित है वैसा आगे स्पष्ट हो जायेगा। वेद के अस्तित्व में पूर्वोक्त श्रुति, स्मृति और लोकप्रसिद्धि-इन प्रमाणों—को भी देखना (स्वीकार करना) चाहिए। जिस प्रकार घटपटादि द्रव्यों के स्वप्रकाशक न होने पर भी सूर्यचन्द्रादि का स्वप्रकाशक होना निर्विरोध है, उसी प्रकार मनुष्यादि का अपने कंधे पर चढ़ना असंभव होने पर भी अकुण्ठित शक्ति वाला वेद अन्य वस्तुओं के प्रतिपादक होने के समान अपना प्रतिपादक भी है। अर्थात् जिस प्रकार यद्यपि घटपटादि द्रव्य स्वयं अपने आपको प्रकाशित नहीं करते अपितु किसी अन्य प्रकाशित वस्तु के प्रकाश से प्रकाशित

भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोति अवगमयितुम्' (शा० भा० १।१।२) इति। तथा सति वेद-मूलायाः स्मृतेस्तदुभयमूलाया लोकप्रसिद्धेश्च प्रामाण्यं दुर्वारम्। तस्मात् लक्षणप्रमाणसिद्धो वेदो न केनापि चार्वाकादिना अपोढुं शक्यते इति स्थितम्।

ननु अस्तु नाम वेदाख्यः कश्चित् पदार्थः, तथापि नासौ व्याख्यान-मर्हति, अप्रमाणत्वेन अनुपयुक्तत्वात्। न हि वेदः प्रमाणम्, तल्लक्षणस्य तत्र दुःसंपादत्वात्। तथाहि 'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्' इति केचिल्लक्षण-माहुः। अपरे तु 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' इत्याचक्षते। न चैतदुभयं वेदे संभवति। मन्त्रब्राह्मणात्मको हि वेदः। तत्र मन्त्राः केचिदबोधकाः। 'अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिः' (ऋ० १।१६९।३) इत्येको मन्त्रः। 'यादृस्मिन् धायि तमपस्यया विदत्' (ऋ० ५।४४।८) इत्यन्यः। 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' (ऋ० १०।१०६।६) इत्यपरः। एवम् 'आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा'

होते हैं तथापि सूर्यचन्द्रादि अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करते हैं और स्वयं भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार यद्यपि मनुष्य स्वयं अपने कंधे पर नहीं चढ़ सकता है तथापि अकुण्ठित शक्ति वाला वेद अन्य समस्त पदार्थों का प्रतिपादन करने के साथ-साथ अपना भी प्रतिपादन करता है। इसलिए संप्रदाय के ज्ञाता लोग वेद की अकुण्ठित शक्ति को बतलाते हैं—'वेद (चोदना) भूत, वर्तमान, भविष्य, सूक्ष्म, व्यवहित (किसी व्यवधान से छिपी हुई) और अत्यन्त दूर की वस्तु का ज्ञान करा सकता है।' ऐसी स्थिति में वेद पर आधृत (वेदमूलक) स्मृति और वेद तथा स्मृति–इन दोनों–पर आधृत लोक-प्रसिद्धि का प्रामाण्य दुर्वार (निवारण न किये जाने वाला) है। इस प्रकार लक्षण और प्रमाण के द्वारा सिद्ध वेद (के अस्तित्व) का निषेध कोई भी चार्वाक आदि नहीं कर सकता।

पूर्वपक्ष—मन्त्रभाग का प्रामाण्य नहीं है—

पूर्वपक्षी का कहना है कि मान लिया वेद नाम का कोई पदार्थ है, तथापि वह व्याख्यान के योग्य नहीं। वेद के प्रमाण न होने के कारण उसका कोई उपयोग नहीं। वेद प्रमाण नहीं क्योंकि प्रमाण का लक्षण वेद में संगत नहीं होता। कतिपय आचार्यों ने प्रमाण का यह लक्षण किया है 'जो सम्यक् अनुभव (यथार्थ ज्ञान) का साधन हो वह प्रमाण होता है।' दूसरे आचार्य प्रमाण का यह लक्षण करते हैं 'जो अज्ञात अर्थ का बोध कराता है वह प्रमाण होता है।' प्रमाण के ये दोनों लक्षण वेद में संभव नहीं। क्योंकि, मन्त्र और ब्राह्मण

(ऋ० १०।८६।५) इत्यादय उदाहार्याः। न हि एतैर्मन्त्रैः कश्चिदप्यर्थोऽवबुध्यते। एतेष्वनुभव एव यदा नास्ति तदा तत्सम्यक्त्वं तदीयसाधनत्वं च दूरापेतम्।

'अधःस्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्' (१०।१२६।५) इति मन्त्रस्य बोधकत्वेऽपि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिवाक्यवत् सन्दिग्धार्थबोधकत्वात् नास्ति प्रामाण्यम्।

'ओषधे त्रायस्वैनम्' (तै० सं० १।२।१।१) इति मन्त्रो दर्भविषयः। 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (तै० सं० १।२।१।१) इति क्षुरविषयः। 'शृणोत ग्रावाणः' (तै० सं० १।३।१३।१) इति पाषाणविषयः। एतेष्वचेतनानां दर्भक्षुरपाषाणानां चेतनवत् संबोधनं श्रूयते। ततो 'द्वौ चन्द्रमसौ' इति वाक्यवत् विपरीतार्थबोधकत्वादप्रामाण्यम्।

'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' (तै० सं० १।८।६।१), 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधि भूम्याम्' (तै० सं० ४।५।११।१) इत्यनयोस्तु

ही वेद हैं। उनमें कतिपय मन्त्र अबोधक (अर्थ का बोध नहीं कराने वाले) हैं। जैसे—'अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिः' 'यादस्मिन् धायि तमपस्यया विदत्' 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' 'आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा'। इन मन्त्रों के द्वारा किसी भी अर्थ का अवबोध (ज्ञान) नहीं होता। इन मन्त्रों में जब कोई अनुभव ही नहीं तब अनुभव का सम्यक् होना और मन्त्रों का सम्यक् अनुभव का साधन होना तो दूर की बात है।

'अधःस्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्' यह मन्त्र यद्यपि बोधक (अर्थ का बोध कराने वाला) है तथापि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादि वाक्य की भाँति सन्दिग्ध अर्थ का बोधक होने से इस मन्त्र का प्रामाण्य नहीं है।

'ओषधे त्रायस्वैनम्' यह मन्त्र दर्भविषयक है (कुशा को सम्बोधित करके कहा गया है)। 'स्वधिते मैनं हिंसीः' यह क्षुरविषयक है। 'शृणोत ग्रावाणः' यह पाषाणविषयक है। इन मन्त्रों में अचेतन पदार्थों—दर्भ, क्षुर (उस्तरा) और पाषाण को चेतन पदार्थ की तरह संबोधित किया गया है। इन मन्त्रों का 'विपरीत अर्थ का बोध कराने के कारण' उसी प्रकार अप्रामाण्य है जिस प्रकार 'दो चन्द्रमा हैं' इस वाक्य का विपरीत अर्थ का बोध कराने के कारण अप्रामाण्य है। अपनी भी रक्षा न कर सकने वाली ओषधि भला किसी की क्या रक्षा करेगी? कोई भी समझदार व्यक्ति ओषधि से रक्षा करने और पत्थरों से श्रवण करने की प्रार्थना कैसे कर सकता है? अचेतन को चेतन की तरह संबोधित करना विपरीत अर्थ का बोधक नहीं तो और क्या?

'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' (रुद्र देवता एक ही है, दूसरा नहीं) और 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधि भूम्याम्' (पृथ्वी पर हजारों-हजारों

मन्त्रयोः 'यावज्जीवमहं मौनी' इति वाक्यवत् व्याघातबोधकत्वाद-प्रामाण्यम् ।

'आप उन्दन्तु' (तै० सं० १।२।१।१) इति मन्त्रो यजमानस्य क्षौरकाले जलेन शिरसः क्लेदनं ब्रूते । 'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम' (आपस्तम्ब मन्त्रपाठ २।८।६) इति मन्त्रो विवाहकाले मङ्गलाचरणार्थं पुष्पनिर्मितायाः शुभिकाया वरवध्वोः शिरसि अवस्थानं ब्रूते । तयोश्च मन्त्रयोर्लोकप्रसिद्धार्थानुवादित्वाद् अनधिगतार्थगन्तृत्वं नास्ति । तस्मान्मन्त्रभागो न प्रमाणम् ।

अत्रोच्यते—अम्यगादिमन्त्राणामर्थो यास्केन निरुक्तग्रन्थेऽवबोधितः । तत्परिचयरहितानामनवबोधो न मन्त्राणां दोषमावहति । अत एवात्र लौकिकं न्यायमुदाहरन्ति—'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति' (नि० १।१६) इति ।

'अधःस्विदासी३न्' इति मन्त्रश्च न सन्देहप्रबोधनाय प्रवृत्तः । किं

रुद्र हैं) ये दोनों मन्त्र परस्पर विरुद्ध अर्थ का बोध कराने के कारण 'यावज्जीवमहं मौनी' (मैं जन्म से मौनी हूँ) वाक्य की तरह अप्रमाण हैं । जो जन्म से मौनी है वह इस वाक्य का कैसे उच्चारण कर रहा है । जिस प्रकार मौनी होना और वाक्य का उच्चारण करना—ये दोनों—परस्पर विरुद्ध हैं, उसी प्रकार रुद्रविषयक उपर्युक्त दोनों मन्त्र परस्पर विरुद्ध हैं'

'आप उन्दन्तु' (जल भिगोयें) यह मन्त्र यजमान के क्षौरकाल में जल से सिर के भिगोने को बतलाता है । 'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम' (हे माला ! मेरे मुख को शोभित करती हुई मेरे सिर पर स्थित हो जाओ) यह मन्त्र विवाहकाल में मङ्गलाचरण के लिए पुष्पनिर्मित माला के वर-वधू के सिर पर रखने को बतलाता है । इन मन्त्रों में लोकप्रसिद्ध अर्थों को दोहराया गया है, अतः ये मन्त्र अज्ञात अर्थ के गमक नहीं हैं । अतः प्रमाण का दूसरा लक्षण 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' भी मन्त्रों में संगत नहीं होता । इसलिए सिद्ध हो गया कि मन्त्रभाग प्रमाण नहीं है ।

उत्तरपक्ष—मंत्रभाग का प्रामाण्य है—

अम्यकादि मन्त्रों का अर्थ यास्क ने निरुक्त में बतलाया है । उस निरुक्त ग्रन्थ से अपरिचित व्यक्ति यदि इन मन्त्रों के अर्थ को नहीं जानता तो इसमें मन्त्रों का कोई दोष नहीं । इसलिए यहाँ एक लौकिक न्याय का उदाहरण देते हैं—यह स्थाणु (ठूँठे वृक्ष) का दोष नहीं जो इसको अन्धा पुरुष नहीं देखता, यह तो उस अंधे पुरुष का अपराध है ।

'अधःस्विदासी३त्' यह मन्त्र संदेह का बोध कराने के लिए प्रवृत्त नहीं

तर्हि ? जगत्कारणस्य परवस्तुनोऽतिगम्भीरत्वं निश्चेतुमेव प्रवृत्तः। तदर्थमेव हि गुरुशास्त्रसंप्रदायरहितैर्दुर्बोधत्वम् 'अधः स्वित्' इत्यनया वचोभङ्गयोपन्यस्यति। स एवाभिप्राय उपरितनेषु 'को अद्धा वेद' (ऋ० १०।१२९।६) इत्यादिमन्त्रेषु स्पष्टीकृतः।

ओषध्यादिमन्त्रेष्वपि चेतना एव तत्तदभिमानिदेवताः तेन तेन नाम्ना संबोध्यन्ते। ताश्च देवता भगवता बादरायणेन 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (ब्र० सू० २।१।५) इति सूत्रे सूत्रिताः।

एकस्यापि रुद्रस्य स्वमहिम्ना सहस्रमूर्तिस्वीकारान्नास्ति परस्परव्याघातः।

जलादिद्रव्येण शिरःक्लेदनादेर्लोकप्रसिद्धत्वेऽपि तदभिमानिदेवतानुग्रहस्याप्रसिद्धत्वात् तद्विषयत्वेनाज्ञातार्थज्ञापकत्वम्।

ततो लक्षणसद्भावादस्ति मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम्।

हुआ है, अपितु जगत् के कारणभूत परम तत्त्व (ब्रह्म) के अतिगाम्भीर्य को द्योतित करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। गुरु परम्परा और शास्त्र परम्परा से रहित व्यक्तियों के लिए वह परम तत्त्व अत्यधिक दुर्बोध है' इस तथ्य को 'अधःस्वित्–' इस उक्तिवैचित्र्य (वचोभंगी) के द्वारा बतलाया गया है। इसी अभिप्राय को 'को अद्धा वेद' इत्यादि परवर्ती मन्त्रों में स्पष्ट किया गया है।

ओषध्यादि मन्त्रों में उन-उन अचेतन पदार्थों में रहने वाले चेतन अभिमानी देवताओं को उन-उन नामों से संबोधित किया गया है। अर्थात् इन मन्त्रों में ओषध्यादि अचेतन पदार्थों को संबोधित नहीं किया गया है, अपितु इन अचेतन पदार्थों के चेतन अभिमानी देवताओं को संबोधित किया गया है। अतः यहाँ विपरीत अर्थ का बोध नहीं हुआ है। प्रत्येक वस्तु का अभिमानी देवता होता है– इस तथ्य को भगवान् बादरायण ने 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' सूत्र में बतलाया है।

एक रुद्र अपनी महिमा से हजारों मूर्तियों को स्वीकार (ग्रहण) कर सकता है, इसलिए उपर्युक्त रुद्रविषयक मन्त्रों में परस्पर विरोध नहीं है।

यद्यपि जलादि द्रव्य के द्वारा सिर भिगोना आदि लोक-प्रसिद्ध हैं तथापि इन कर्मों के करने से उन-उन अभिमानी देवताओं का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है यह बात तो लोक में अप्रसिद्ध है और इस अप्रसिद्ध बात को बतलाने के कारण ये मन्त्र अज्ञात अर्थ के ज्ञापक हैं। अतः प्रमाण का दूसरा लक्षण भी मन्त्रों में घटित हो जाता है;

इसलिए प्रमाण के लक्षणों के घटित हो जाने के कारण मन्त्रभाग का प्रामाण्य सिद्ध हो गया।

एतदेवाभिप्रेत्य भगवान् जैमिनिः मन्त्राधिकरणे मन्त्राणां विवक्षितार्थत्वमसूत्रयत् (जै० सू० १।२।३१-४५)। तानि च सूत्राणि क्रमेणोदाहृत्य व्याख्यास्यामः। तत्र पूर्वपक्षं सूत्रयति—

'तदर्थशास्त्रात्' (जै० १।२।३१) इति।

यस्यार्थस्याभिधाने समर्थो मन्त्रः स एवाभिधेयो यस्य शास्त्रस्य ब्राह्मणवाक्यस्य तदिदं वाक्यं तदर्थशास्त्रम्। तस्मात् शास्त्रात् अविवक्षितार्थो मन्त्रः इत्यवगम्यते। तथा हि—'उरु प्रथस्व' (तै० सं० १।१।८) इति मन्त्रेण पुरोडाशप्रथनमभिधीयते 'पुरोडाशं प्रथयति' (तै० ब्रा० ३।२।८।४) इति ब्राह्मणेनापि तदेवाभिधीयते। तथा सति मन्त्रेणैव प्रतीतत्वात् तदर्थबोधनाय प्रवृत्तं ब्राह्मणमनर्थकं स्यात्। मन्त्रस्याविवक्षितार्थत्वे तु विनियोगबोधनाय ब्राह्मणमुपयुक्तम्। तस्मात् मन्त्राः उच्चारणेनैव अनुष्ठाने उपकुर्वन्ति।

पूर्वपक्ष—मन्त्रों में अर्थ-बोधकता नहीं है (मन्त्रों में अर्थ नहीं होता है)।

इसी अभिप्राय को दृष्टि में रखकर भगवान् जैमिनि ने मन्त्राधिकरण में मन्त्रों के विवक्षितार्थत्व (मन्त्रों में अर्थ विवक्षित है इस तथ्य) को सूत्रित किया है। उन सूत्रों को क्रम से उद्धृत करके उनका व्याख्यान करेंगे। पहले पूर्वपक्ष के सूत्रों को प्रस्तुत करते हैं—

'उसी (अर्थात् मन्त्र-प्रतिपाद्य) अर्थ के प्रतिपादक शास्त्र (ब्राह्मणवाक्य) से सिद्ध होता है कि मन्त्र अनर्थक हैं।'

जिस अर्थ का अभिधान (प्रतिपादन) करने में मन्त्र समर्थ होता है, वही अभिधेय (प्रतिपाद्य) है जिस शास्त्र अर्थात् ब्राह्मण वाक्य का उसी ब्राह्मणवाक्य को तदर्थशास्त्र कहा गया है। उसी शास्त्र अर्थात् ब्राह्मणवाक्य से यह ज्ञात होता है कि मन्त्र में अर्थ की विवक्षा नहीं होती। जैसे कि, 'उरु प्रथस्व' मन्त्र के द्वारा पुरोडाश के प्रथन (फैलाने) का अभिधान हुआ है और 'पुरोडाशं प्रथयति' इस ब्राह्मण के द्वारा भी पुरोडाश के प्रथन का ही अभिधान होता है। ऐसी दशा में यदि यह कहा जाता है कि पुरोडाश का प्रथन मन्त्र से ही प्रतीत हो जाता है, तो इसी पुरोडाश-प्रथन रूप अर्थ के बोध के लिए प्रवृत्त ब्राह्मण-वाक्य अनर्थक हो जायेगा। और यदि हम स्वीकार कर लेते हैं कि मन्त्र में अर्थ की विवक्षा नहीं होती तो इस मन्त्र का विनियोग बताने में ब्राह्मण वाक्य की उपयोगिता सिद्ध हो जाती है। इसलिए यह मानना उचित है कि मन्त्र उच्चारणमात्र से अनुष्ठान में उपकार करते हैं। उनका कोई अर्थ नहीं होता।

ननु उच्चारणार्थत्वे सति अदृष्टं प्रयोजनं परिकल्प्येत। अर्थाभिधायकत्वे तु दृष्टं लभ्यते। तस्मात् ब्राह्मणस्यानुवादकत्वमभ्युपेत्यापि मन्त्रस्यार्थाभिधानार्थत्वमेव इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'वाक्यनियमात्' (जै० १।२।३२) इति।

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत् (ऋ० ८।४४।१६) इत्येवमेव वाक्यं पठितव्यमिति मन्त्र नियम उपलभ्यते। अर्थप्रत्यायनं तु मूर्द्धाग्निरित्येवं व्युत्क्रमपाठेऽपि भवत्येव। तस्मात् नियतपाठक्रमसाफल्यायोच्चारणमेव मन्त्रप्रयोजनम्।

ननु पाठक्रमनियममात्रस्य अदृष्टार्थत्वेऽपि मन्त्रपाठोऽर्थबोधार्थ एव इत्याशङ्क्य तत्र दोषान्तरं सूत्रयति—

'बुद्धशास्त्रात्' (जै० १।२।३३) इति।

मन्त्र को केवल उच्चारणार्थ मानने पर अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी। अर्थ का अभिधायक (प्रतिपादक) मानने पर तो दृष्ट प्रयोजन प्राप्त होता है और नियम यह है कि दृष्ट प्रयोजन के संभव होने पर अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना नहीं करनी चाहिए (दृष्टे फले संभवति नादृष्टपरिकल्पना)। इसलिए ब्राह्मण को मन्त्र का अनुवाद स्वीकार करके भी मन्त्र में अर्थबोधकता माननी चाहिए। ऐसी शङ्का उत्पन्न करके इसका उत्तर देते हैं—

'मन्त्रवाक्य के पदक्रम के नियम से ज्ञात होता है कि मन्त्र की अर्थबोधकता नहीं होती'।

'अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्' इत्यादि मन्त्रवाक्यों में यह नियम है कि इन वाक्यों को इसी निश्चित क्रम से पढ़ना चाहिए। यदि इस मन्त्र को व्युत्क्रम से 'मूर्द्धाग्निः···' इस प्रकार पढ़ते हैं तब भी उसी अर्थ का ज्ञान हो जाता है। इसलिए निश्चित पाठक्रम की सफलता के लिए, उच्चारण ही मन्त्र का प्रयोजन है, यह मानना चाहिए। पाठक्रम के निश्चित होने का यही कारण है कि इसी क्रम से मन्त्रों का उच्चारण करने से अदृष्ट की उत्पत्ति होती है। अर्थज्ञान के लिए तो पाठक्रम को निश्चित करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। अतः मन्त्रों में अर्थबोधकता नहीं है।

पाठक्रम के नियममात्र के अदृष्ट के लिए होने पर भी मन्त्र का पाठ तो अर्थज्ञान के लिए ही होता है। ऐसी शङ्का करके दूसरा दोष उपस्थित करते हैं—

'मन्त्रों में ज्ञात वस्तु का पुनः कथन होने से भी सिद्ध होता है कि मन्त्रों में अर्थबोधकता नहीं हैं'।

'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२) इति प्रैषमन्त्रः प्रयोग-काले पठ्यते। तच्च अग्निविहरणादिकं आग्नीध्रेण अध्ययनकाले एव स्वकर्त्तव्यत्वेन बुद्धम्। तस्य च बुद्धस्यार्थस्य पुनर्मन्त्रोच्चारणेन शासनमनर्थकम्। न हि सोपानत्के पादे पुनरपि उपानहं प्रतिमुञ्चति।

ननु बुद्धस्याप्यर्थस्य प्रामादिकविस्मरणपरिहाराय मन्त्रेण स्मारण-मस्तु इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अविद्यमानवचनात्' (जै० १।२।३४) इति।

'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य' (ऋ० ४।५८।३) इति मन्त्र आम्नायते। न खलु चतुःशृङ्गत्वाद्युपेतं किञ्चित् यज्ञसाधनं विद्यते यन्मन्त्रपाठेनानुस्मर्येत।

ननु ईदृशी काचिद् देवता स्यादित्याशङ्क्य अन्यं दोषं सूत्रयति—

'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' (जै० १।२।३५) इति।

'ओषधे त्रायस्वैनम्', 'शृणोत ग्रावाणः' इत्यादावचेतने द्रव्ये चेतनोचितरक्षणश्रवणाद्यर्थं बध्नाति। स चायुक्तः।

'अग्नीदग्नीन् विहर' यह प्रैष (आज्ञावाचक) मन्त्र प्रयोग के समय (यज्ञकाल में) पढ़ा जाता है। अग्नि को प्रज्वलित करने वाला आग्नीध्र नामक पुरोहित अग्निविहरणादि (अग्निविहरण=अग्नि को एक मण्डप से दूसरे मण्डप में ले जाना) कर्म को अपने अध्ययन-काल में ही अपने कर्त्तव्य के रूप में समझ लेता है। उसी ज्ञात अर्थ अग्निविहरण का पुनः मन्त्रोच्चारण के द्वारा शासन करना अनर्थक ही है क्योंकि जिस पैर में पहले से ही उपानह (जूता) विद्यमान है उसमें कोई भी पुनः उपानह (जूता) नहीं पहनता। अतः मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं है।

ज्ञात अर्थ का भी प्रमादवश विस्मरण हो सकता है, इसलिए मन्त्र ज्ञात अर्थ का स्मरण करा देता है। अतः मन्त्र सार्थक हैं। ऐसी शङ्का करके दूसरा दोष प्रस्तुत करते हैं—'अविद्यमान वस्तु का कथन पाये जाने से मन्त्रों का कुछ अर्थ नहीं'।

'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य' यह एक मन्त्र है। चतुःशृङ्गत्वादि से उपेत (चार सींगों आदि से युक्त) कोई यज्ञ-साधन है ही नहीं जिसका मन्त्र-पाठ के द्वारा स्मारण कराया जाय।

हो सकता है कि इस प्रकार की कोई देवता हो जिसका स्मारण यह मन्त्र कराता हो। ऐसी शङ्का करके दूसरा दोष देते हैं—

'मन्त्रों में अचेतन द्रव्यों के साथ चेतनोचित अर्थों का संबन्ध होने से भी यह ज्ञात होता है कि मन्त्रों में अर्थ-बोधकता नहीं है'।

'ओषधे त्रायस्वैनम्' 'शृणोत ग्रावाणः' इत्यादि मन्त्रों में अचेतन द्रव्य में

ननु अभिमानिव्यपदेश इति वैयासिकशास्त्रे सूत्रितत्वात् ओषध्याद्यभिमानिचेतनदेवतात्र विवक्ष्यतामित्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अर्थविप्रतिषेधात्' (जै० १।२।३६) इति।

'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ० १।८९।१०) इति मन्त्रः आम्नायते। यदेव द्यौस्तदेव अन्तरिक्षमित्ययमर्थो विप्रतिषिद्धः। एवम् 'एक एव रुद्रः' (तै० सं० १।८।६।१), 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः' (तै० सं० ४।५।११।१) इत्यादिकमपि उदाहर्तव्यम्।

ननु 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इत्यादिवत् अन्तरिक्षादिरूपत्वेन अदितिः स्तूयते। एवमेकस्यापि रुद्रस्य योगसामर्थ्यात् बहुमूर्तिस्वीकारोऽस्तु। ततो नार्थविप्रतिषेधः इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'स्वाध्यायवदवचनात्' (जै० १।२।३७) इति।

पूर्णिका नाम काचिद् योषिदवघातं करोति। तत्समीपे माणवकः स्वाध्यायग्रहणार्थं कदाचित् अवघातमन्त्रमधीते। न च तस्यार्थप्रकाशन-

---

चेतनोचित रक्षण, श्रवण आदि अर्थ का संबन्ध स्थापित किया गया है जो उचित नहीं जँचता। अतः मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं है।

'अभिमानिव्यपदेशः' इस वैयासिकशास्त्र (बादरायण—सूत्र) में सूत्रित ओषध्यादि के अभिमानिनी चेतन देवताओं की ऐसे स्थलों पर विवक्षा होती है। अतः मन्त्रों में अर्थ है। यह शङ्का उठाकर दूसरा दोष प्रस्तुत करते हैं—'मन्त्रों के अर्थों में परस्पर विरोध होने से भी यही सिद्ध होता है कि मन्त्रों में कोई अर्थ नहीं है'।

'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' यह एक मन्त्र है। जो अदिति द्युलोक है वही अदिति अन्तरिक्ष है—यह अर्थ परस्पर विरुद्ध है। इसी प्रकार 'एक एव रुद्रः', 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः' इत्यादि मन्त्रों का भी उदाहरण दिया जा सकता है।

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इत्यादि की तरह अन्तरिक्ष आदि रूप से अदिति की स्तुति की गई है। इसी प्रकार एक ही रुद्र का योग के सामर्थ्य से बहुत रूपों का स्वीकार करना हो सकता है। इसलिए मन्त्रों में अर्थ-प्रतिषेध नहीं, यह शङ्का उठाकर दूसरे दोष को प्रस्तुत करते हैं—

'स्वाध्याय–काल की तरह यज्ञकाल में भी मन्त्रों की अर्थबोधकता नहीं होती'।

पूर्णिका नाम की कोई स्त्री अवघात कर रही है (धान कूट रही है)। उसके समीप में माणवक (बालक) स्वाध्याय के ग्रहण के लिए प्रसंगवश अवघातमन्त्र

विवक्षा अस्ति, प्रतिमुसलप्रहारं तस्य मन्त्रस्यापठ्यमानत्वात्। अक्षर-ग्रहणायैव तं मन्त्रमन्यांश्च मन्त्रानभ्यस्यति। तत्र स्वाध्यायकाले पठितोऽपि अवघातमन्त्रो यथा पूणिकां प्रति स्वार्थं न ब्रूते तथा कर्मकालेऽपि स्वार्थं न वक्ष्यति।

ननु तत्र माणवकस्य अर्थे विवक्षा नास्ति। पूणिकापि अवबोद्धुमक्षमा। कर्मणि तु अध्वर्योरर्थविवक्षा विद्यते, बोधश्च संभवति इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अविज्ञेयात्' (जै० १।२।३८)।

केषाञ्चिन्मन्त्राणामर्थो विज्ञातुं न शक्यते। तद् यथा—'अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे' इत्येको मन्त्रः। 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यपरो मन्त्रः।

ननु ईदृशमन्त्रार्थबोधायैव निगमनिरुक्तव्याकरणानि प्रवृत्तानि इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्' (जै० १।२।३९) इति।

'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु' (ऋ० ३।५३।१४) इति मन्त्रे कीकटो नाम जनपद आम्नातः। तथा नैचाशाखं नाम नगरं, प्रमगन्दो नाम राजा

का अध्ययन करता है। उस मन्त्र की यहाँ अर्थविवक्षा नहीं है क्योंकि प्रत्येक मूसल के प्रहार के साथ वह मन्त्र नहीं पढ़ा जा रहा है। अक्षर-ग्रहण के लिए ही उस मन्त्र तथा अन्य मन्त्रों का अभ्यास कर रहा है। स्वाध्यायकाल में पठित अवघातमन्त्र जिस प्रकार पूणिका के प्रति अपने अर्थ को नहीं बतलाता वैसे ही यज्ञ के समय पर भी अपने अर्थ को नहीं कहेगा। अतः मन्त्र सार्थक नहीं है।

इस स्थल में माणवक की अर्थ में विवक्षा नहीं और पूणिका भी इस मंत्र के अर्थ को समझने में असमर्थ है। यज्ञ में तो अध्वर्यु की अर्थविवक्षा होती है और मन्त्र के अर्थ का बोध होना संभव है। ऐसी शङ्का करके दूसरा दोष देते हैं—

'कतिपय मंत्रों का अर्थ जाना नहीं जा सकता, अतः मंत्रों का अर्थ नहीं'।

कतिपय मन्त्रों का अर्थ जाना नहीं जा सकता। जैसे, 'अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे' यह एक मन्त्र है। 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' यह दूसरा मन्त्र है।

ऐसे मन्त्रों के अर्थज्ञान के लिए ही निगम (निघण्टु) निरुक्त तथा व्याकरण प्रवृत्त हैं। ऐसी शङ्का उठाकर दूसरा दोष प्रस्तुत करते हैं—

'अनित्य पदार्थों के साथ संयोग होने से मन्त्रों का आनर्थक्य है'।

'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु' इस मन्त्र में कीकट नाम के देश का उल्लेख

इत्येतेऽर्था अनित्या आम्नाताः। तथा च सति प्राक् प्रमगन्दात् नायं मंत्रो भूतपूर्व इति गम्यते।

तदेवमेतैः तदर्थशास्त्रादिभिर्हेतुभिर्मन्त्राणामर्थप्रत्यायनार्थत्वं नास्ति किंतु उच्चारणादहष्टार्था एवेति पूर्वपक्षः।

तत्र सिद्धान्तं सूत्रयति—

'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (जै० १।२।४०) इति।

तुशब्देन मन्त्राणामदृष्टार्थमुच्चारणमात्रं वारयति। क्रियाकारक-संबन्धेन प्रतीयमानो वाक्यार्थो लोकवेदयोरविशिष्टः। तथा सति यथा लोकेऽर्थप्रत्यायनायैव वाक्यमुच्चार्यते तथा वैदिकयागप्रयोगेऽपि द्रष्टव्यम्। मन्त्रेण प्रकाशितस्तु अर्थोऽनुष्ठातुं शक्यते, न तु अप्रकाशितः। तस्मात् मन्त्रोच्चारणस्यार्थप्रकाशनरूपं दृष्टमेव प्रयोजनम्।

ननु 'अभ्रिरसि नारिरसि' (वा० सं० ११।१०) इत्यारभ्य 'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसाददे' (तै० सं० ४।१।१।३-४) इति मन्त्र आम्नातः। तेनैव

हुआ है। इसी प्रकार नैचाशाख नामक नगर और प्रमगन्द नामक राजा—इन अनित्य पदार्थों का उल्लेख हुआ है। ऐसी स्थिति होने पर यह ज्ञात होता है कि प्रमगन्द नामक राजा से पहले मन्त्र विद्यमान नहीं था।

इस प्रकार तदर्थशास्त्र आदि इन हेतुओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्रों की अर्थबोधकता नहीं है किंतु उनके उच्चारण से अदृष्ट प्रयोजन की प्राप्ति होती है। यहाँ पूर्वपक्ष समाप्त हुआ।

अब सिद्धान्तपक्ष के सूत्रों को प्रस्तुत करते हैं—

सिद्धान्त पक्ष-मन्त्रों में अर्थबोधकता होती है (मन्त्रों का अर्थ होता है)।

'वाक्यार्थ तो समान है'।

सूत्र में प्रयुक्त 'तु' शब्द इस मत का निराकरण करता है कि अदृष्ट के लिए मन्त्रों का उच्चारणमात्र किया जाता है। क्रिया और कारक के संबन्ध से प्रतीत होने वाला वाक्यार्थ लोक और वेद में अविशिष्ट अर्थात् समान होता है। जिस प्रकार लोक में अर्थबोध के लिए वाक्य का उच्चारण होता है, उसी प्रकार वैदिक याग के प्रयोग में भी मन्त्रवाक्य का उच्चारण अर्थबोध के लिए होता है। मन्त्र से प्रकाशित (बोधित) ही अर्थ का अनुष्ठान किया जा सकता है, अप्रकाशित (अबोधित) अर्थ का नहीं। इसलिए मन्त्रोच्चारण का अर्थप्रकाशन रूप दृष्ट ही प्रयोजन है।

'अभ्रिरसि नारिरसि' (तुम अभ्रि=कुदाल=फावड़ा हो, शत्रु नहीं हो) इससे लेकर 'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसाददे' तक एक मन्त्र है। इसी मन्त्र के द्वारा कुदाल—ग्रहण के प्रतीत हो जाने पर भी, फिर ब्राह्मण में इस प्रकार विधान किया गया है

मन्त्रेण प्रतीतेऽपि अभ्र्यादाने पुनर्ब्राह्मणे 'तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते' (तै० सं० ५।१।१।४) इति विधीयते । तदेतद् विधानं त्वत्पक्षे व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्योत्तरं सूत्रयति—

'गुणार्थेन पुनः श्रुतिः' (जै० १।२।४१) ।

मन्त्रेण प्रतीतस्यैवार्थस्य ब्राह्मणे यत्पुनःश्रवणं तदेतच्चतुःसंख्यालक्षणगुणविधानार्थत्वेनोपयुज्यते । एतस्य विधानस्याभावे चतुर्णां मन्त्राणां मध्ये येन केनाप्येकेन अभ्रिरादीयेत ।

ननु 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' (वा० सं० २२।२) 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' (तै० सं० ५।१।२।१) इत्यत्र मन्त्रसामर्थ्यादेव प्राप्तस्य रशनादानस्य पुनर्ब्राह्मणवाक्यं विनियोजकमाम्नायते । तदेतत् त्वन्मते व्यर्थमित्याशङ्क्योत्तरं सूत्रयति—

'परिसंख्या' (जै० १।२।४२) इति ।

'तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते' (चार मन्त्रों से कुदाल का ग्रहण करता है)। मन्त्र के द्वारा प्रतीत (ज्ञात) विषय का ही ब्राह्मणवाक्य में जो विधान हुआ है वह तुम्हारे पक्ष में व्यर्थ है, ऐसी आशङ्का प्रस्तुत करके उत्तर देते हैं—

'गुणविधान के निमित्त पुनः श्रवण हुआ है' ।

मन्त्र के द्वारा प्रतीत (ज्ञात) ही अर्थ (विषय) का ब्राह्मण में जो पुनः श्रवण = पुनः विधान हुआ है वह चार संख्या रूप गुणविधान के निमित्त उपयुक्त है। इस विधान के न होने पर चार मन्त्रों में से जिस किसी भी एक मन्त्र के द्वारा कुदाल का आदान हो जाता। इस ब्राह्मण के कारण चारों मन्त्रों के द्वारा कुदाल का आदान होता है। इसलिए ब्राह्मण व्यर्थ नहीं है।

'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' इस मन्त्र की सामर्थ्य से ही प्राप्त (ज्ञात) रशनादान (लगाम का हाथ में पकड़ना) के लिए फिर मन्त्र का विनियोग बताने वाला ब्राह्मणवाक्य 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' आम्नात किया गया है। तुम्हारे मत में यह ब्राह्मणवाक्य व्यर्थ होगा, यह शंका करके जैमिनि के इस सूत्र से उत्तर देते हैं—

'परिसंख्या'= वर्जनबुद्धि अर्थात् निषेध के हेतु यह ब्राह्मणवाक्य उपयुक्त है' ।

---

१. परिसंख्या—अपूर्व विधि, नियमविधि और परिसंख्याविधि—ये तीन प्रकार की विधियाँ होती हैं। वह विधि जो अन्य प्रमाणों से अज्ञात (अप्राप्त) अर्थ का विधान करती है उसे अपूर्व विधि कहते हैं। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस वाक्य से स्वर्ग प्रयोजन वाले होम का ज्ञान होता है। इस

'गर्दभाभिधानीं नादत्ते' इति निषेधः परिसंख्या। तदर्थमिदं ब्राह्मणवाक्यम्।

ननु परिसंख्यायां त्रयो दोषाः प्राप्नुयुः—'आदत्ते' इति शब्दो रशनादानलक्षणं स्वार्थं जह्यात्। तन्निषेधलक्षणः परार्थोऽस्य शब्दस्य कल्प्येत। रशनात्वसामान्येन च प्राप्तं गर्दभरशनाया आदानं बाध्येत इति त्रयो दोषाः। नैवम्। गर्दभरशनाया अप्राप्तत्वात्। तथाहि तत्पक्षे प्रकरणपाठान्यथानुपपत्त्या मन्त्रेणानेन आदानं कुर्यादिति वाक्यं परिकल्प्यते। तेन च वाक्येन मन्त्रादानयोः संबन्धे सिद्धे सति पश्चात् किंविषय-

---

'गर्दभ की अभिधानी (लगाम) को न पकड़े' यह निषेध परिसंख्या कहलाता है। उस निषेध के लिए यह ब्राह्मणवाक्य उपयोगी है।

किन्तु परिसंख्या में तीन दोष प्राप्त होते हैं—'आदत्ते' यह शब्द रशनादानरूप अपने अर्थ का परित्याग कर देता है। 'आदत्ते' शब्द रशनादाननिषेधरूप दूसरे अर्थ की कल्पना करता है। और सामान्य रशनादान से जो गर्दभरशना का आदान प्राप्त था उसका बाध होता है ('अश्वाभिधानीमादत्ते' इसका शब्दार्थ है 'अश्व की लगाम को पकड़े' किन्तु इसका तात्पर्य है 'गर्दभ की लगाम को न पकड़े'। उपर्युक्त वाक्य का जो अर्थ 'अश्व की रशना का आदान करना'

विधिवाक्य के अतिरिक्त किसी अन्य प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण से अग्निहोत्र का ज्ञान नहीं होता। अतः इस विधिवाक्य को अपूर्व विधि कहते हैं। पक्ष में अप्राप्त के प्रापक विधि को नियमविधि कहते हैं। अर्थात् जहाँ पर अनेकों उपायों से क्रिया की सिद्धि संभव हो वहाँ किसी एक उपाय को नियमित कर देने वाली विधि नियमविधि कहलाती है। जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति' यह नियमविधि है। नखविदलन आदि नाना उपायों से वैतुष्य सिद्ध हो सकता है किन्तु यह विधि नियम कर देती है कि अवघात से ही तुषविमोक करना चाहिए। एक समय में दो की प्राप्ति रहने पर अन्य की व्यावृत्ति करने वाली विधि परिसंख्या विधि कहलाती है—उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः। जैसे, 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' यह वाक्य पञ्चनख (पाँच नाखून वालों) के भक्षण का विधान नहीं करता क्योंकि वह तो रागतः प्राप्त है। यह वाक्य अपञ्चनख (जिन्हें पाँच नाखून न हों) तथा पाँच को छोड़कर अन्य पाँच नाखून वाले प्राणियों के भक्षण का निषेध करता है। प्रकृत में 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' इस परिसंख्या विधि का तात्पर्य अश्व की लगाम के ग्रहण कराने में नहीं है अपितु यह विधि गर्दभ की लगाम के मन्त्रपूर्वक ग्रहण करने का निषेध करती है।

क्रमादानमिति वीक्षायां लिङ्गाद् रशनामात्रस्यादानमुपेत्य गर्दभरशनायाः प्राप्तिर्वक्तव्या। सा च विलम्ब्यते। 'इति अश्वाभिधानीम्' इति प्रत्यक्षेण वाक्येन मन्त्रादानयोः संबन्धे सति लिङ्गात् रशनामात्रे प्राप्तमादानम् 'अश्वाभिधानीम्' इति श्रुत्या विशेषे व्यवस्थाप्यते। ततो मन्त्रस्य निराकाङ्क्षत्वात् गर्दभरशनाया अप्राप्तत्वान्नास्ति प्राप्तबाधः। अत एव निषेधार्थो न कल्प्यते, विध्यर्थश्च न त्यज्यते। तत्र कुतो दोषत्रयम्? ईदृशमप्राप्तिरूपमेव गर्दभरशनाया निवारणमभिप्रेत्य 'परिसंख्या' इति सूत्रितम्।

सुनाई पड़ता है, उसको छोड़ दिया जाता है, 'गर्दभ की रशना का आदान न करना' इस अश्रुत अर्थ की कल्पना की जाती है। सामान्य रशनादान से प्राप्त गर्दभरशनादान का बाध होता है)।

इस शङ्का का उत्तर देते हुए सिद्धान्ती का कथन है कि प्रकृत स्थल में उपर्युक्त दोष नहीं होते क्योंकि यहाँ गर्दभ की रशना प्राप्त नहीं है जैसे कि प्रकरणपाठ अन्यथा अनुपपन्न है इसलिए इस वाक्य की कल्पना करते हैं कि इस मन्त्र से आदान करना चाहिए। इस वाक्य से मन्त्र और आदान का संबन्ध सिद्ध हो जाने पर तत्पश्चात् 'किसका आदान करना चाहिए' यह आकांक्षा होने पर लिङ्ग से अर्थात् मन्त्र के सामर्थ्य से रशनामात्र अर्थात् अश्वरशना तथा गर्दभरशना इन दोनों के आदान में मन्त्र प्रवृत्त होता है और इस प्रकार गर्दभरशना की प्राप्ति कहनी चाहिए और यह प्रतीति तो विलम्ब से होती है। 'इति अश्वाभिधानीमादत्ते' इस प्रत्यक्ष वाक्य के द्वारा मन्त्र और आदान का संबन्ध होने पर 'अश्वाभिधानीम्' इस श्रुति के द्वारा यह मन्त्र अश्वरशनादान रूप विशेष में व्यवस्थित कर दिया जाता है जब कि लिङ्ग इस मन्त्र को रशना-सामान्य में विनियुक्त करता है। श्रुति लिङ्ग से बलवती होती है अतः अश्वरशना-दान में ही इस मन्त्र का विनियोग होता है। अश्वरशनादान में विनियुक्त हो जाने पर यह मन्त्र निराकांक्ष हो जाता है और गर्दभरशना की प्राप्ति ही नहीं होती, अतः प्रकृत में प्राप्तबाध नहीं होता। इसलिए निषेधार्थ की कल्पना नहीं की जाती और विध्यर्थ का परित्याग नहीं किया जाता। इस प्रकार प्रकृत में तीन दोष कहाँ? गर्दभरशना के प्राप्त न होने पर भी उसका जो निवारण किया गया है अर्थात् जो अप्राप्तबाध है उसी को अभिप्रेत कर यहाँ 'परिसंख्या' सूत्र उपनिबद्ध किया गया है। (बाध दो प्रकार का होता है—प्राप्तबाध और अप्राप्तबाध)।

ननु 'उरु प्रथस्व इति प्रथयति' इति ब्राह्मणस्य वैयर्थ्यं तदवस्थमेव इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अर्थवादो वा' (जै० १।२।४३)

वा शब्दो वैयर्थ्यं वारयति। अस्त्यत्र अर्थवादः 'यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति' इति। तेन अर्थवादेन संबन्धाय ब्राह्मणे विधिः पठ्यते।

ननु प्रथयति इत्यनेनैव विधिशब्देन प्रथनमनूद्य 'यज्ञपतिमेव' इत्यादिनार्थवादेन स्तोतव्यम्। तदेव तु प्रथनं कुतः प्राप्तमित्याशङ्क्य आह—

'मन्त्राभिधानात्' इति। अध्वर्युः पुरोडाशमुद्दिश्य मन्त्रे 'प्रथस्व' इत्येवमभिधत्ते। तस्मादभिधानाद् अध्वर्युकर्तृकं प्रथनं प्राप्तम्। यथा लोके यः कुरु इति ब्रूते स कारयत्येव, तथात्रापि यः प्रथस्व इति ब्रूते स प्रथयत्येव।

यह सब होते हुए भी 'उरु प्रथस्व इति प्रथयति' इस ब्राह्मणवाक्य का पूर्वोक्त वैयर्थ्य अवारित ही है क्योंकि मन्त्रों के विवक्षितार्थ होने पर 'उरु प्रथस्व' इस मन्त्र से ही उक्त ब्राह्मणवाक्य का अर्थबोध हो जायेगा। इस शङ्का का उत्तर सूत्रित करते हैं—

'यहाँ एक अर्थवाद है'।

सूत्र में प्रयुक्त वा शब्द ब्राह्मणवाक्य के वैयर्थ्य का निवारण करता है। यहाँ पर 'यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति' (वह पुरोडाशप्रथन यजमान का ही विस्तार करता है) यह अर्थवाद है। उस अर्थवाद के साथ संबन्ध के लिए ब्राह्मण में विधि का पाठ किया गया है। नियम यह है कि अर्थवाद का संबन्ध विधि के ही साथ हो सकता है, मन्त्र के साथ नहीं। यदि यहाँ विधि का पाठ न किया जाये तो अर्थवाद का सम्बन्ध किसके साथ होगा। इसलिए अर्थवाद के साथ सम्बन्ध के लिए यहाँ विधि का पाठ किया गया है।

पुनः यह शङ्का होती है कि 'प्रथयति' इस विधि शब्द से प्रथन का अनुवाद करके 'यज्ञपतिमेव' इत्यादि अर्थवाद से स्तुति होनी चाहिए। तो बतलाओ वह प्रथन ही किससे प्राप्त है? यहाँ पर विधि प्रथन का विधान नहीं कर रही है अपितु प्रथन का अनुवाद कर रही है और अनुवाद उसी का हो सकता है जो पहले से प्राप्त होता है। अतएव यह प्रश्न उठता है कि वह प्रथन कहाँ से प्राप्त हुआ है। इस शङ्का का उत्तर बतलाते हैं—

'मन्त्र के अभिधान से'।

अध्वर्यु पुरोडाश को उद्दिष्ट करके मन्त्र में 'उरु प्रथस्व' (विस्तृत रूप से फैलो) यह अभिधान (कथन) करता है। उस अभिधान से अध्वर्युकर्तृक

यदुक्तम् 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः' इति पाठक्रमनियमाद् अदृष्टार्थो मन्त्र इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'अविरुद्धं परम्' (जै० १।२।४४) इति ।

परं द्वितीयसूत्रोक्तम् अस्मत्पक्षेऽपि अविरुद्धम् । न हि वयं पाठक्रमनियमादृदष्टं निवारयामः । किं तर्हि ? मन्त्रोच्चारणेन जायमानमर्थप्रत्यायनं दृष्टप्रयोजनत्वान्नोपेक्षितव्यम् इत्येतावदेव ब्रूमः ।

ननु 'प्रोक्षणीरासादय' (वा० सं० १।२८) इति मन्त्रो बुद्धमेव अर्थं शास्ति तदयुक्तम् । सोपानत्कस्य उपानदन्तरासंभवात् इत्युक्तमिति चेत् । तस्य परिहारं सूत्रयति—

'संप्रैषकर्मणो गर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात्' (जै० १।२।४५) इति ।

संप्रैषकर्मणो गर्हा त्वदुक्तदोषो नोपलभ्यते । बुद्धस्याप्यर्थस्य मन्त्रेणैवानुस्मरणे सति नियमादृष्टलक्षणस्य संस्कारस्य सद्भावात् ।

पुरोडाशप्रथन प्राप्त होता है (अर्थात् इससे सिद्ध होता है कि इस प्रथन का कर्ता अध्वर्यु है) क्योंकि अध्वर्यु के विना पुरोडाश स्वयं तो नहीं फैल सकता है । जैसे लोक में जो 'करो' ऐसा कहता है, वह करवाता ही है । उसी प्रकार जो 'फैलो' ऐसा कहता है वह फैलाता ही है ।

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः' आदि मन्त्रों में पाठक्रम का नियम होने से सिद्ध होता है कि मन्त्र का अदृष्ट प्रयोजन होता है, उसका उत्तर इस सूत्र से देते हैं—

पर अर्थात् द्वितीय सूत्र में जो नियत क्रम वाला मन्त्रपाठ अदृष्टार्थ कहा है वह हमारे अर्थस्मारण पक्ष में भी विरुद्ध नहीं । क्योंकि हमलोग मन्त्र के पाठक्रम के नियम से उत्पन्न होने वाले अदृष्ट का निवारण नहीं करते हैं । तो फिर क्या ? हमारा इतना ही कहना है कि मन्त्रोच्चारण से जायमान जो अर्थज्ञान रूप दृष्ट प्रयोजन है उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

पूर्वपक्षी ने कहा था कि 'प्रोक्षणीरासादय' यह मन्त्र पहले से ही जानी हुई बात को करने का शासन (आज्ञा) करता है, यह युक्त नहीं है । जिस पैर में पहले से उपानह विद्यमान है उसमें दूसरा उपानह धारण करना असंभव है । इस शंका का परिहार इस सूत्र से करते हैं—

'अनुज्ञावाक्य की निन्दा उचित नहीं संस्कार होने से ।'

आज्ञावाचक कर्म की निन्दा अर्थात् तुम्हारे द्वारा कहा गया दोष उचित नहीं । ज्ञात अर्थ का मन्त्र द्वारा अनुस्मरण करने पर नियमादृष्ट रूप संस्कार की उत्पत्ति होती है ।

यच्चोक्तं 'चत्वारि शृङ्गाः' इति मन्त्रो असन्तमेवार्थमभिधत्ते इति तस्योत्तरं सूत्रयति—

'अभिधानेऽर्थवादः' (जै० १।२।४६)।

असतोऽर्थस्य अभिधायके वाक्ये गौणस्यार्थस्योक्तिर्द्रष्टव्या। तद्यथा चत्वारो होत्रध्वर्यूद्गातृब्रह्माणोऽस्य कर्मणः शृङ्गाणि । प्रातःसवनादयस्त्रयः पादाः। पत्नीयजमानौ द्वे शीर्षे। गायत्र्यादीनि सप्तच्छन्दांसि हस्ताः। ऋग्वेदादिभिस्त्रिभिर्वेदैस्त्रेधा बन्धनम्। कामान् वर्षतीति वृषभः। रोरवीति स्तोत्रशस्त्रादिशब्दान् पुनः पुनः करोति। महो देवः सोऽयं प्रौढो यज्ञरूपो देवो मर्त्यान् आविवेश इति मनुष्या एवात्राधिकारिणः। लोकेऽपि एवं गौणप्रयोगा दृश्यन्ते—'चक्रवाकस्तनी, हंसदन्तावली, काशवस्त्रा, शैवालकेशिनी' इत्येवं नद्याः स्तूयमानत्वात्। एवम् 'ओषधे त्रायस्व', 'शृणोत ग्रावाणः' इत्याद्यचेतनसंबोधनानि स्तुतिपरत्वेन योजनीयानि। यस्मिन् वपने ओषधिरपि त्रायते तत्र वपनकर्ता त्रायते इति किमु वक्तव्यम्। तथा ग्रावाणोऽपि प्रातरनुवाकं शृण्वन्ति किमुत विद्वांसो ब्राह्मणा इत्यामन्त्रणाभिप्रायः।

और पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि 'चत्वारि शृङ्गाः' यह मन्त्र अविद्यमान अर्थ का अभिधान करता है, इस शंका का उत्तर जैमिनि के इस सूत्र से देते हैं—

'ऐसे अभिधान में अर्थवाद समझना चाहिए'।

अविद्यमान अर्थ के अभिधायक वाक्य में गौण अर्थ की उक्ति समझ लेनी चाहिए। जैसे, उपर्युक्त मन्त्र को लीजिए—होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा इस कर्म (यज्ञ) के सींग हैं। प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल सवन इस यज्ञ के तीन पाद हैं। यजमान की पत्नी और यजमान इसके दो सिर हैं। गायत्री आदि सात छन्द इसके हाथ हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—इन तीन वेदों से यह तीन प्रकार से बंधा हुआ है। मानव-कामनाओं का वर्षण करता है (पूरा करता है), अतः यह यज्ञ वृषभ है। रोरवीति अर्थात् स्तोत्रशस्त्रादि शब्दों को पुनः पुनः करता है। यह प्रौढ़ यज्ञरूपी देव (महो देवः) मनुष्यों में प्रविष्ट हो गया है अर्थात् मनुष्य ही इस यज्ञ के अधिकारी है। लोक में भी इस प्रकार के प्रयोग दिखलाई पड़ते हैं जैसे कि किसी नदी की स्तुति इस प्रकार की गई है—चक्रवाक इस नदी के स्तन हैं, हंस इसके दाँतों की पङ्क्तियाँ हैं, काश इसके वस्त्र हैं और शैवाल इसके केश हैं। इसी प्रकार 'ओषधे त्रायस्व' और 'शृणोत ग्रावाणः' इत्यादि अचेतनविषयक संबोधनों को स्तुतिपरक जानना चाहिए। जिस केश-वपन में ओषधि भी रक्षा करती है उसमें इसका तो कहना ही क्या कि

योऽपि 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' इति विप्रतिषेध उक्तः, तस्योत्तरं सूत्रयति—

'गुणादविप्रतिषेधः स्यात्' (जै० १।२।४७) इति ।

'यथा त्वमेव पिता त्वमेव माता' इत्यत्र गौणप्रयोगादविरोधस्तद्वत् । एवमेकरुद्रदेवत्ये कर्मणि एको रुद्रः शतरुद्रदेवत्ये शतं रुद्रा इति अविरोधः ।

यदप्युक्तं 'स्वाध्यायमधीयानो माणवकः पूर्णिकाया अवहर्ति न प्रकाशयितुमिच्छति इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'विद्यावचनमसंयोगात्' (जै० १।२।४८) ।

वेदविद्याग्रहणकालेऽर्थस्य यदवचनं तदयज्ञसंयोगादुपपद्यते । न हि पूर्णिकाया अवघातो यज्ञसंयुक्तः नापि माणवको यज्ञमनुतिष्ठति । अतो यज्ञानुपकारात् न तत्रार्थविवक्षा ।

वपनकर्ता (नाई) रक्षा करता है । उसी प्रकार पाषाण भी प्रातरनुवाक को सुनते हैं, विद्वान् ब्राह्मणों का क्या कहना ? यह संबोधनों का अभिप्राय है । पूर्वपक्षी ने 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' मन्त्र में परस्पर-विरोध कहा था, उसके उत्तर में सूत्र देते हैं—

'गौण-प्रयोग से अविरोध है' ।

जिस प्रकार 'त्वमेव पिता त्वमेव माता' में गौण प्रयोग समझ लेने पर परस्पर विरोध नहीं रहता, उसी प्रकार गौण प्रयोग मान लेने पर प्रकृत स्थल में परस्पर-विरोध नहीं रहता । इस प्रकार एक रुद्र वाले यज्ञ में एक रुद्र का उल्लेख किया गया है और सौ रुद्र वाले यज्ञ में सौ रुद्रों का उल्लेख किया गया है । ऐसे स्थलों में कोई विरोध नहीं होता ।

पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि स्वाध्याय का अध्ययन करता हुआ बालक (माणवक) पूर्णिका के मूसल से कूटने को प्रकाशित नहीं करना चाहता, उसका उत्तर इस सूत्र से देते हैं—

'विद्याकाल में यज्ञ का संयोग न होने से अर्थ-विवक्षा नहीं होती' ।

वेदविद्या के ग्रहण के समय पर जो अर्थ का कथन नहीं होता वह यज्ञ का संयोग न होने से उपपन्न होता है । यज्ञकाल में मन्त्र के अर्थ की आवश्यकता होती है । न तो पूर्णिका का अवघात यज्ञ से संबद्ध है और न माणवक यज्ञ का अनुष्ठान कर रहा है । इसलिए माणवक के स्वाध्याय से यज्ञ का कोई उपकार न होने से वहाँ अर्थ-विवक्षा नहीं है ।

यदप्युक्तं 'अम्यक् सा त इन्द्र' 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यादौ अर्थस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् नास्त्येवार्थः इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'सतः परमविज्ञानम्' (जै० १।२।४९) इति ।

विद्यमान एवार्थः प्रमादालस्यादिभिर्न विज्ञायते । तेषां निगमनिरुक्त-व्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः परिकल्पयितव्यः । तद्यथा—'जर्भरी तुर्फरीतू' इत्येवमादीनि अश्विनोरभिधानानि । तेषु हि द्विवचनान्तत्वं लक्ष्यते । आश्विनं चेदं सूक्तम् 'अश्विनोः काममप्राः' (ऋ० १०।१०६।११) इति दर्शनात् । एतदेवाभिप्रेत्य निरुक्तकारो व्याचष्टे 'जर्भरी भर्तारौ इत्यर्थः' 'तुर्फरीतू हन्तारौ इत्यर्थः' (नि० १३।५) इति । एवम् 'अम्यक् सा ते' इत्यादावपि ज्ञेयम् ।

यदप्युक्तं प्रमगन्दाद्यनित्यार्थसंयोगात् मन्त्रस्य अनादित्वं न स्यात् इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'उक्तश्चानित्यसंयोगः' (जै० १।२।५०) इति ।

प्रथमपादस्यान्तिमाधिकरणे सोऽयमनित्यसंयोगदोष उक्तः परिहृतः । तथाहि तत्र पूर्वपक्षे वेदानां पौरुषेयत्वं वक्तुं काठकं, कालापकम् इत्यादि

पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि 'अम्यक् सा त इन्द्र' 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यादि मन्त्रों का अर्थ जानना असंभव होने से उनमें अर्थ है ही नहीं, उसका उत्तर देते हैं—

'अर्थ विद्यमान है परन्तु अज्ञात है' ।

मन्त्रों में अर्थ है परन्तु प्रमाद और आलस्य के कारण ज्ञात नहीं होता । निघण्टु (निगम), निरुक्त और व्याकरण की सहायता से धातुओं से ऐसे मन्त्रों का अर्थज्ञान कर लेना चाहिए । उदाहरण के लिए जर्भरी, तुर्फरो इत्यादि अश्विनों के विशेषण हैं क्योंकि ये शब्द द्विवचनान्त हैं । 'अश्विनोः काममप्राः' शब्दों के दिखाई पड़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सूक्त अश्विनों का है । इसी बात को ध्यान में रखकर निरुक्तकार यास्क इन शब्दों की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—जर्भरी का अर्थ है भरण करने वाले, तुर्फरी का अर्थ है हनन करने वाले । इसी प्रकार 'अम्यक् सा ते' इत्यादि मन्त्रों का अर्थ समझना चाहिए ।

पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि प्रमगन्द आदि अनित्य पदार्थों के साथ संयोग होने से मन्त्र अनादि सिद्ध नहीं होता, उसके उत्तर में सूत्र देते हैं—

'अनित्यसंयोग कह दिया गया' ।

प्रथम पाद के अन्तिम अधिकरण में इस अनित्यसंयोगदोष का उल्लेख किया गया है तथा उसका परिहार कर दिया गया है क्योंकि, वहाँ पूर्वपक्ष में वेदों के

पुरुषसंबन्धाभिधानं हेतूकृत्य 'अनित्यदर्शनाच्च' (जै० १।१।२८) इति हेत्वन्तरं सूत्रितम्। तस्यायमर्थः—बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) इति अनित्यानां बबरादीनामर्थानां दर्शनाद् ततः पूर्वम् असत्त्वात् पौरुषेयो वेद इति। तस्योत्तरमेवं सूत्रितम्—'परं तु श्रुति-सामान्यमात्रम्' (जै० १।१।३१) इति। तस्यायमर्थः—यत् काठकादि-समाख्यानं तत् प्रवचननिमित्तम्। यत्तु परं बबराद्यनित्यदर्शनं तत् शब्दसामान्यमात्रम्। न तु तत्र अनित्यो बबराख्यः कश्चित् पुरुषो विवक्षितः, किंतु बबरः इति शब्दानुकृतिः। तथा सति बबर इति शब्दं कुर्वन् वायुरभिधीयते। स च प्रावाहणिः प्रकर्षेण वहनशीलः। एवमन्यत्रा-प्यूहनीयम्। तदेवं कस्यचिदपि दोषस्यासंभवात् विवक्षितार्था मन्त्राः स्वार्थप्रकाशनायैव प्रयोक्तव्याः।

ननु अर्थप्रकाशनार्थत्वे सति दृष्टं प्रयोजनं लभ्यते इति युक्तिमात्र-मिदमुच्यते। न तु एतदुपोद्बलकं किंचित् श्रौतं लिङ्गं पश्यामः इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

पौरुषेयत्व को कहने के लिए काठक, कालापक इत्यादि पुरुषों के संबन्ध को हेतु बनाकर 'अनित्यदर्शनाच्च' इस दूसरे हेतु को सूत्रित किया है।

उसका यह अर्थ है—'बबरः प्रावाहणिरकामयत' आदि मन्त्रों में बबरादि अनित्य पदार्थों के दिखाई पड़ने से ज्ञात होता है कि इन अनित्य पदार्थों के पहले वेद नहीं था और इस प्रकार वेद स्पष्टतया पौरुषेय है। इसका उत्तर जैमिनि ने इस सूत्र में दिया है 'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्'। इसका यह अर्थ है—काठक, कालापक आदि का जो उल्लेख है वह प्रवचननिमित्त है अर्थात् इन लोगों ने वेद का प्रवचन किया, निर्माण नहीं। और जो दूसरा कारण दिया गया है अर्थात् बबरादि अनित्य पदार्थों का जो दिखलाई पड़ना (उल्लेख) है वह शब्दसामान्य-मात्र है। वहाँ पर अनित्य बबर नामक कोई पुरुष विवक्षित नहीं किन्तु बबर शब्दानुकरण है। इस प्रकार 'बबर बबर' शब्द करता हुआ वायु बबर कहा गया है; और अत्यधिक वहनशील होने के कारण उसे प्रावाहणि कहा गया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए। इस प्रकार किसी भी दोष के असंभव होने से मन्त्रों में अर्थ विवक्षित है और अपने अर्थ के प्रकाशन के लिए ही उनका प्रयोग होता है।

किन्तु आपका यह कहना, कि मन्त्र यज्ञ में अर्थप्रकाशन के लिए प्रयुक्त होते हैं और इस प्रकार मान लेने पर उनका अदृष्ट फल के स्थान पर दृष्ट फल

'लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्' (जै० १।२।५१) इति।

'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठेत' इति श्रूयते। तस्यायमर्थः—अग्निर्देवता यस्या ऋचः सेयमाग्नेयी, तया आग्नीध्रस्थानमुपतिष्ठेत इति। अत्र हि उपस्थानमुपदिशद् ब्राह्मणम् 'अग्ने नय' (ऋ० १।१८६।१) इत्यनया 'उपतिष्ठेत' इति मन्त्रप्रतीकं पठित्वा नोपदिशति, किंतु आग्नेयीत्वलिङ्गेन उपदिशति। यदा यस्यामृचि अग्निः प्राधान्येन प्रतिपाद्यते तदा तस्या ऋचः अग्निर्देवता भवति। तथा सति आग्नेय्या इति देवतावाचितद्धितान्तनिर्देश उपपद्यते। तस्मादयमुपदेशस्तन्मन्त्रवाक्यमर्थवदिति बोधयति। अतो विवक्षितार्थत्वात् अर्थप्रत्यायनार्थं प्रयोगकाले मन्त्रोचारणम्।

तस्मिन्नेव विवक्षितार्थत्वे लिङ्गान्तरं सूत्रयति—

'ऊहः' (जै० १।२।५२) इति।

प्रकृतौ आम्नातस्य मन्त्रस्य विकृतौ समवेतार्थत्वाय तदुचितपदान्तरस्य प्रक्षेपेण पाठः ऊहः। तद्यथा 'अन्वेनं माता मन्यतामनु पितानु

प्राप्त होता है, युक्तिमात्र है। आप के इस दृष्टिकोण का समर्थक कोई श्रौत लिङ्ग (प्रमाण) नहीं दिखाई देता। ऐसी शङ्का करके उत्तर देते हैं—

'लिङ्ग के द्वारा उपदेश करने से मन्त्रवाक्य अर्थयुक्त ज्ञात होता है।'

'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठेत' यह ब्राह्मण-वाक्य है। इसका यह अर्थ है—अग्नि है देवता जिसका वह आग्नेयी ऋचा है। उस अग्निप्रकाशिका (आग्नेयी) ऋचा के द्वारा आग्नीध्र स्थान (मण्डपविशेष) की स्तुति करे। यहाँ पर उपस्थान का उपदेश करता हुआ ब्राह्मण-वाक्य 'अग्ने नय' इस ऋचा से स्तुति करे, इस प्रकार मन्त्रप्रतीक को पढ़कर उपदेश नहीं करता है किन्तु आग्नेयीत्व लिङ्ग से उपदेश करता है। जब जिस ऋचा में अग्नि प्रधानरूपेण प्रतिपादित हो, तब उस ऋचा का अग्नि देवता होता है। ऐसा होने पर 'आग्नेय्या' यह देवतावाचक तद्धितान्त निर्देश उपपन्न होता है। इसलिए ब्राह्मणवाक्य का यह उपदेश यह बोध कराता है कि मन्त्रवाक्य का अर्थ है (यदि मन्त्रों का अर्थ न हो तब तो यह कहना अयुक्त होगा कि इस ऋचा (मन्त्र) में अग्नि देवता का प्रतिपादन हुआ है)। अतः मन्त्रों का अर्थ विवक्षित होने से अर्थज्ञान के लिए ही मन्त्रों का उच्चारण होता है।

'मन्त्रों में अर्थ विवक्षित है' इस तथ्य के समर्थन में जैमिनि दूसरा हेतु देते हैं—'ऊह'। प्रकृतियाग में आम्नात मन्त्र का विकृतियाग में अर्थ संगत करने के लिए उस (विकृति) के उचित दूसरे पद का प्रक्षेप (परिवर्तन) के द्वारा पाठ कर लेना ऊह कहलाता है। उदाहरण के लिए जैसे 'अन्वेनं माता मन्यतामनु

भ्राता' (तै० ब्रा० ३।६।६।१) इति प्राकृतः पशुविषयो मन्त्रपाठः। तस्य च मन्त्रस्य विकृतौ पशुद्वये सति 'अन्वेनौ माता मन्यताम्' इत्यूहः। पशुबहुत्वे सति 'अन्वेनान् माता मन्यताम्' इत्यूहः कर्त्तव्यः। एतन्मन्त्रव्याख्यानरूपं ब्राह्मणमेवमाम्नायते—'न माता वर्द्धते न पिता' इति। तत्रेदं चिन्तनीयम्। किमत्र शरीरवृद्धिर्निषिध्यते, आहोस्वित् शब्दवृद्धिरिति। एकवचनान्तस्य मातृशब्दस्य मातरौ इति द्विवचनान्तत्वेन वा, मातरः इति बहुवचनान्तत्वेन वा प्रयोगः शब्दवृद्धिः। तत्र न तावत् शरीरवृद्धिर्निषेद्धुं शक्यते, बाल्यकौमारयौवनादिवयोऽनुसारेण तद्वृद्धेः प्रत्यक्षत्वात्। अतः शब्दवृद्धिनिषेध एव परिशिष्यते। मातृशब्दपितृशब्दयोर्विशेषाकारेण वृद्धिनिषेधात् इतरस्य एनमिति शब्दस्य अर्थानुसारिणी वृद्धिः सूचिता भवति। तत्र यद्यर्थो न विवक्षितः तदा पशुद्वित्वे द्विवचनं पशुबहुत्वे बहुवचनं च कथमूह्येत ? तस्माद् विवक्षितार्था मन्त्राः।

तस्मिन्नेवार्थे लिङ्गान्तरं सूत्रयति—

'विधिशब्दाच्च' (जै० १।२।५३) इति।

मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्दः इति उच्यते। स

पितानु भ्राता' यह प्रकृति में पशुविषयक मन्त्रपाठ है। इस मन्त्र का विकृति में दो पशु होने पर 'अन्वेनौ माता मन्यताम्' यह ऊह कर लिया जाता है। बहुत पशु होने पर 'अन्वेनान् माता मन्यताम्' यह ऊह कर लेना चाहिए। इस मन्त्र का व्याख्यानस्वरूप ब्राह्मण इस प्रकार पढ़ा गया है 'न माता वर्द्धते न पिता'। यहाँ पर यह विचारणीय है कि क्या यहाँ शरीरवृद्धि का निषेध किया जा रहा है अथवा शब्दवृद्धि का निषेध किया जा रहा है। एकवचनान्त मातृशब्द का 'मातरौ' इस द्विवचनान्त रूप में अथवा 'मातरः' इस बहुवचनान्तरूप में प्रयोग होना ही शब्दवृद्धि है। शरीरवृद्धि का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि बाल्य, कौमार, यौवनादि अवस्था के अनुसार शरीर की वृद्धि प्रत्यक्ष है। अतः शब्द की वृद्धि का निषेध बच गया। मातृशब्द और पितृशब्द का विशेषरूपेण वृद्धिनिषेध हो जाने से अन्य 'एनम्' शब्द की अर्थानुसार वृद्धि सूचित होती है। यहाँ यदि अर्थ विवक्षित न होता तो दो पशु होने पर द्विवचन और बहुत पशु होने पर बहुवचन का ऊह कैसे किया जाता ? इसलिए यह मानना होगा कि मन्त्रों में अर्थ विवक्षित होता है।

इसी विषय में अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

'और विधिशब्द से'।

मन्त्र के व्याख्यानरूप ब्राह्मणगत शब्द को विधिशब्द कहते हैं। वह इस प्रकार

चैवमाम्नायते—'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्म इत्येव एतदाह' (श० ब्रा० २।३।४।२१) इति। तत्र 'शतं हिमाः' इत्येतत् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्। अवशिष्टं तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम्। मन्त्रस्य अविवक्षितार्थत्वे तु किं नाम तात्पर्यं मन्त्रे व्याख्यायेत। तस्माद् विवक्षितार्था मन्त्राः प्रयोगकाले स्वार्थप्रकाशनायैवोच्चारयितव्याः। तत्र संग्रहश्लोकौ—

मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः।
यागेऽपूत पुरोडाशप्रथनादेश्च भासकाः॥
ब्राह्मणेनापि तद्भानान्मन्त्राः पुण्यैकहेतवः।
न, तद्भानस्य दृष्टत्वाद् दृष्टं वरमदृष्टतः॥

(जै० न्या० १।२।४)

नन्वस्तु मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम्, ब्राह्मणभागस्य तु न तद् युज्यते। तथा हि, द्विविधं ब्राह्मणम्—विधिरर्थवादश्च। तथा च आपस्तम्बः—

आम्नात किया जाता है—'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्म इत्येव एतदाह' ('शतं हिमाः' इस मन्त्र में यह कहा गया है कि सौ वर्ष तक जीवित रहें)। इसमें 'शतं हिमाः' यह व्याख्येय मन्त्र का प्रतीक है। अवशिष्ट अंश में मन्त्र के तात्पर्य का व्याख्यान है अर्थात् इस अवशिष्ट अंश में मन्त्र का तात्पर्य बतलाया गया है। किन्तु यदि मन्त्रों में अर्थ ही विवक्षित न हो तो ब्राह्मण में मन्त्र के तात्पर्य के व्याख्यान का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये यह सिद्ध हो गया कि मन्त्रों में अर्थ विवक्षित है और प्रयोगकाल में स्वकीय अर्थ के प्रकाशन के लिए उनका उच्चारण करना चाहिए। इस प्रसंग में ये दो संग्रह श्लोक हैं—

'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्र क्या केवल अदृष्ट फल के लिए उच्चारण किए जाते हैं अथवा यज्ञों में पुरोडाशप्रथन आदि का प्रकाशन भी करते हैं अर्थात् क्या मन्त्रों का कोई अर्थ विवक्षित होता है (प्रश्न)? ब्राह्मण के द्वारा भी उसी (अर्थात् मन्त्र में प्रतिपादित) अर्थ का प्रकाशन (ज्ञान) होता है, इसलिए (ब्राह्मणों की सार्थकता के लिए) यह मानना उचित है कि मन्त्र केवल पुण्य (अदृष्ट) के लिए ही होते हैं (पूर्वपक्ष)। यह मानना उचित नहीं क्योंकि अर्थज्ञान दृष्ट फल है और यह स्वीकार किया गया है कि दृष्ट फल अदृष्ट फल से श्रेष्ठ होता है। (यह न्याय है—लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना अर्थात् दृष्ट फल के प्राप्त होने पर अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करनी चाहिए) (सिद्धान्त)।

पूर्वपक्ष—ब्राह्मण (विधिभाग) का प्रामाण्य नहीं है।

मान लिया कि वेद के मन्त्र भाग का प्रामाण्य है, किन्तु ब्राह्मण भाग का प्रामाण्य नहीं हो सकता। ब्राह्मण के दो भेद हैं-विधि और अर्थवाद। जैसे कि

'कर्मचोदना ब्राह्मणानि, ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः' (आप० परि० ३४–३५) इति । विधिरपि द्विविधः—अप्रवृत्तप्रवर्त्तनम् अज्ञातार्थज्ञापनं चेति । 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्' (ऐ० ब्रा० १।१) इत्याद्याः कर्मकाण्डगतविधयोऽप्रवृत्तप्रवर्त्तकाः । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० आ० २।४।१) इत्यादयो ब्रह्मकाण्डगता अज्ञातज्ञापकाः । तत्र कर्मकाण्डगतानां 'जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा' (तै० सं० ५।४।३।२) इत्यादिविधीनां नास्ति प्रामाण्यम् ; प्रवृत्त्ययोग्यद्रव्यविधानेन सम्यगनुभवसाधनत्वाभावात् । अयोग्यत्वं च वाक्यशेषे समाम्नातम्— 'अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च' (तै० सं० ५।४।३।२) इति । तत्र हि आरण्यतिलानाम् आरण्यगोधूमानां च आहुतिद्रव्यत्वं निषिद्धम् । तस्माद् बाधितो जर्त्तिलादिविधिरप्रमाणम् । एवमैतरेयतैत्तिरीयादिब्राह्मणेषु 'तत्तन्नाहृत्यम्' (ऐ० ब्रा० २।२३), तत्तथा न कार्यम्' (तै० ब्रा० १।१।८।६) इति

आपस्तम्ब ने कहा है–'कर्म के प्रेरक (विधायक) ब्राह्मण वाक्य होते हैं (चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनमाहुः' भाष्य । 'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः' श्लोकवार्त्तिकः)। ब्राह्मण का शेष भाग अर्थवाद है'। विधि के दो प्रकार हैं–अप्रवृत्तप्रवर्त्तन (अप्रवृत्त पुरुष को प्रवृत्त करने वाली) और अज्ञातार्थज्ञापन (अज्ञात विषय का ज्ञान कराने वाली)। 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्' (दीक्षणीया इष्टि में अग्नि-विष्णु देवता के लिए पुरोडाश का निर्वाप करे इत्यादि कर्मकाण्डगत (कर्मकाण्ड में आई हुई) विधियाँ अप्रवृत्तप्रवर्त्तक हैं। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्यादि ब्रह्मकाण्डगत विधियाँ अज्ञातज्ञापक हैं। उनमें कर्मकाण्डगत 'जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा' (जंगली तिलों के यवागू से होम करे या ज़ंगली गेहुँओं के यवागू से) इत्यादि विधियों का प्रामाण्य नहीं; क्योंकि ये विधियाँ प्रवृत्ति के अयोग्य द्रव्यों का विधान करती हैं और इस प्रकार वे सम्यक् अनुभव का साधन नहीं हैं। विहित द्रव्यों की अयोग्यता वाक्य-शेष में वतलाई गई है–'अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च'। इस वाक्य में जङ्गली तिलों और जङ्गली गेहुँओं का आहुतिद्रव्य होना निषिद्ध किया गया है। इसलिए बाधित होने के कारण जर्तिलादि विधि प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार ऐतरेय तथा तैत्तिरीय आदि ब्राह्मणों में 'उन-उन को आदर नहीं करना चाहिए' (तत्तन्नादृत्यम्), 'उसको उस प्रकार नहीं करना चाहिए' (तत्तथा न कार्यम्) इन दो वाक्यों के द्वारा बहुत सी विधियों का निषेध किया गया है। इसके अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण में सूर्योदय से पूर्व किए गए होम की बहुत बार निन्दा करके पुनः पुनः कहा गया है अतः "सूर्योदय होने पर होम करना चाहिए"।

वाक्याभ्यां बहवो विधयो निषिद्धाः। अपि च ऐतरेयब्राह्मणे अनुदितहोमं बहुधा निन्दित्वा—'तस्मादुदिते होतव्यम्' (ऐ० ब्रा० ५।३।१) इति असकृन्निगदितम्। तैत्तिरीयाश्च तथैवामनन्ति—'यदनुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयात् उभयमेवाग्नेयं स्यात्, उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति' (तै० ब्रा० २।१।२।७) इति। पुनरपि त एव उदितहोमे दोषमामनन्ति—'यदुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयाद् यथा अतिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथायाहार्यं हरन्ति तादृगेव तत्' (तै० ब्रा० २।१।२।१२) इति। तथैव 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति विधिः 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति निषेधेन बाध्यते। ज्योतिष्टोमादिषु अपि अनुष्ठानानन्तरमेव स्वर्गादिफलं नोपलभ्यते। न हि भोजनानन्तरं तृप्तेरनुपलम्भोऽस्ति। तस्मात् कर्मविधिषु प्रामाण्यं दुःसंपादम्।

अज्ञातज्ञापकेषु ब्रह्मविधिष्वपि परस्परविरोधान्नास्ति प्रामाण्यम्। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इति ऐतरेयिण आमनन्ति (ऐ० उ० १।१)। 'असद् वा इदमग्र आसीत्' (तै० आ० ८।७) इति तैत्तिरीयाः। सोऽयं विरोधः। तस्माद् वेदे विधिभागः सर्वोऽप्यप्रमाणमिति प्राप्ते ब्रूमः—

तैतिरीय शाखा के अध्येता उसी प्रकार कहते हैं—'यदि सूर्योदय से पूर्व होम किया जाय तब तो प्रातः होम और सायं होम ये दोनों अग्नि देवता के हो जायेंगे (सूर्य को होम प्राप्त नहीं होगा), अतएव सूर्योदय होने पर प्रातः होम करना चाहिए (इस प्रकार करने पर सायं होम अग्नि का होगा और प्रातः होम सूर्य के लिए होगा)। पुनः वे ही लोग सूर्योदय होने पर किए जाने वाले होम में दोष बतलाते हैं—'सूर्योदय होने पर होम करना वैसे ही है जैसे अतिथि के घर में स्थित होने पर तो उसकी पूजा न की जावे और उसके चले जाने पर शून्य घर के लिए भोजन ले जाना।' उसी प्रकार 'अतिरात्र नामक याग में षोडशी पात्र का ग्रहण करे' यह विधिवाक्य 'अतिरात्र में षोडशी पात्र का ग्रहण न करें' इस निषेध से बाधित होता है। ('ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि विधिवाक्यों से विहित) ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों के करने पर भी अनुष्ठान करने के पश्चात् स्वर्गादि फलों की प्राप्ति नहीं होती। भोजन करने के उपरान्त तृप्ति न हो ऐसा नहीं होता। इसलिए कर्मविधियों में प्रामाण्य संपादित नहीं किया जा सकता।

अज्ञातज्ञापक ब्रह्मविधियों में भी परस्पर विरोध होने से प्रामाण्य नहीं है। ऐतरेय शाखा के अध्येता कहते हैं—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' अर्थात् सृष्टि के पूर्व एक मात्र आत्मा ही था, अन्य कोई न था। तैत्तिरीय शाखा के अध्येता कहते हैं—'असद् वा इदमग्र आसीत्' अर्थात् सृष्टि के पूर्व शून्य (कुछ

अस्तु एवं जर्त्तिलादिविधेरप्रामाण्यं, तदर्थस्याननुष्ठेयत्वात्। अनुष्ठेयस्तु अर्थ उपरितने 'अजाक्षीरेण जुहोति' (तै० सं० ५।४।३।२) इति वाक्ये विधीयते। तत्प्रशंसार्थमत्र जर्त्तिलादिकमनूद्य निन्द्यते। यथा गवामश्वानां च प्रशंसार्थम् 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' (तै० सं० ५।२।६।४) इति वाक्येनार्थवादरूपेण अजादीनां पशुत्वं निन्द्यते, तद्वत्। एवं तर्हि अजादेर्यथा वस्तुतः पशुत्वमस्ति तथा जर्त्तिलादिविधिरत्र निन्द्यमानोऽपि क्वचित् शाखान्तरे भवेदिति चेत्। भवतु नाम प्रामाण्यमपि तच्छाखाध्यायिनं प्रति भविष्यति। यथा गृहस्थाश्रमे निषिद्धमपि परान्नभोजनमाश्रमान्तरेषु प्रामाणिकं तद्वत्। अनेन न्यायेन सर्वत्र परस्परविरुद्धौ विधिनिषेधौ पुरुषभेदेन व्यवस्थापनीयौ। यथा मन्त्रेषु पाठभेदः शाखाभेदेन व्यवस्थितस्तद्वत्। तैत्तिरीयाः 'वायवः स्थोपायवः स्थ' (तै० सं० १।१।१) इति मन्त्रमामनन्ति। वाजसनेयिनस्तु 'उपायवः स्थ' इत्येतं भागं

नहीं) था। यहाँ पर विरोध स्पष्ट है। इसलिए वेद में संपूर्ण विधिभाग अप्रमाण है।

सिद्धान्तपक्ष—ब्राह्मण (विधिभाग) का प्रामाण्य है।

जर्तिल आदि विषयक विधि का अप्रामाण्य है तो होने दीजिए, इससे कोई हानि नहीं क्योंकि इन विधियों में विहित अर्थ अनुष्ठान के योग्य नहीं है। अनुष्ठान के योग्य अर्थ का विधान तो 'अजाक्षीरेण जुहोति' (अजा के दूध से होम करे) इस परवर्ती वाक्य में किया गया है। अनुष्ठेय पदार्थ अजाक्षीर की प्रशंसा करने के लिए यहाँ पर जर्त्तिलादि का उल्लेख करके उनकी निन्दा की गई है। जिस प्रकार गो और अश्व की प्रशंसा करने के लिए 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' (गाय और अश्व से अन्य अपशु हैं—पशु कहलाने के योग्य नहीं हैं) इस अर्थवाद रूप वाक्य के द्वारा अजादि पशुओं के पशुत्व की निन्दा की गई है, उसी प्रकार अजाक्षीर की प्रशंसा करने के लिए जर्त्तिलादि की निन्दा की गई है। यदि कोई प्रश्न करे कि जिस प्रकार निन्दा किए जाने पर भी अजादि का वस्तुतः पशुत्व है, उसी प्रकार जर्तिलादि की विधि यहाँ निन्दा की जाने पर भी किसी अन्य शाखा में हो सकती है, तो इसका उत्तर यह है कि ऐसा हो तो होने दीजिए, इस विधि का प्रामाण्य भी उस शाखा के अध्येताओं के प्रति होगा। जिस प्रकार गृहस्थाश्रम में दूसरे के अन्न का भोजन करना निषिद्ध होने पर भी अन्य आश्रमों में प्रामाणिक है, उसी प्रकार जर्तिलादि की विधि किसी अन्य शाखा में प्रामाणिक हो सकती है। इस न्याय से सभी स्थलों पर परस्परविरुद्ध विधियों और निषेधों को पुरुष के भेद से व्यवस्थित कर लेना चाहिए। जिस प्रकार शाखाभेद से मन्त्रों में पाठभेद

नामनन्ति (ब्रा० सं० १।१)। प्रत्युत शतपथब्राह्मणे स भागोऽनूद्य निराकृतः (श० ब्रा० १।७।१।३)। तथा सूक्तवाकमन्त्रे शाखान्तरपाठं निराकृत्य पाठान्तरं तैत्तिरीयाः आमनन्ति—'यद् ब्रूयात् सूपावसाना च स्वध्यवसाना चेति प्रमायुको यजमानः स्यात्' (तै० सं० २।६।६।६) इति निराकरणम्। 'सूपचरणा च स्वधिचरणा चेत्येव ब्रूयात्' इति पाठान्तरोपदेशः। तत्र अनुष्ठातृपुरुषभेदेन व्यवस्था। तद्वत् विधिषु द्रष्टव्यम्। षोडशिग्रहणादि-दूषणं तु अश्रुतमीमांसावृत्तान्तस्य तवैव शोभते। पूर्वमीमांसायां दशमाध्यायस्याष्टमपादे षोडशिनो ग्रहणाग्रहणविकल्पो निर्णीतः (जै० १०।८।६)। द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमपादे कालान्तरभाविफलसिद्ध्यर्थमपूर्वं निर्णीतम् (जै० २।१।५)। तद्वदुत्तरमीमांसायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे 'कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः' (ब्र० सू० १।४।१४) इत्यस्मिन् सूत्रे जगत्कारणे परमात्मनि श्रुतिविप्रतिपत्तिर्निराकृता। द्वितीयाध्यायस्य प्रथमे पादे आरम्भणाधिकरणे तु 'असद्व्यपदेशान्नेति चेत्, न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्' (ब्र० सू० २।१।१७) इति सूत्रे तैत्तिरीयवाक्यगतस्य असच्छब्दस्य

व्यवस्थित है, उसी प्रकार विधियों को व्यवस्थित कर लेना चाहिए। तैत्तिरीय शाखा वाले 'वायवः स्थोपायवः स्थ' ऐसा मन्त्रपाठ करते हैं। वाजसनेयी शाखा वाले 'उपायवः स्थ' इस भाग को नहीं पढ़ते प्रत्युत शतपथब्राह्मण में उस भाग का उल्लेख करके उसका निराकरण किया गया है। इसी प्रकार सूक्तवाकमन्त्र में तैत्तिरीय शाखा के अध्येता अन्य शाखा के पाठ का निराकरण करके अन्य पाठ की स्थापना करते हैं—'यद् ब्रूयात् सूपावसाना च स्वध्यवसाना चेति प्रमायुको यजमानः स्यात्' इस वाक्य में अन्य शाखा के पाठ का निराकरण किया गया है। 'सूपचरणा च स्वधिचरणा चेत्येव ब्रूयात्' इस वाक्य में पाठान्तर का उपदेश किया गया है। जिस प्रकार ऐसे स्थलों पर अनुष्ठान करने वाले पुरुष के भेद से पाठभेद की व्यवस्था कर ली जाती है, उसी प्रकार विधियों में व्यवस्था कर लेनी चाहिए। आपके द्वारा बतलाया गया षोडशिग्रहण आदि दोष तो मीमांसा शास्त्र से अनभिज्ञ आपको ही शोभा देता है। पूर्वमीमांसा के दशम अध्याय के अष्टम पाद में षोडशी पात्र के ग्रहण करने और न ग्रहण करने के विकल्प का निर्णय किया गया है। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में कालान्तर में होने वाले फल की सिद्धि के लिए अपूर्व की स्थापना की गई है। उसी प्रकार उत्तरमीमांसा में प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद में 'कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः' इस सूत्र में जगत् के कारण परमात्मा के विषय में श्रुतिवाक्यों में जो-जो परस्पर-विरोध है उसका निराकरण किया गया है। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद के आरम्भणाधिकरण के 'असद्व्यपदेशान्नेति चेत्, न धर्मान्तरेण

न शून्यपरत्वं किंतु अव्यक्तावस्थपरत्वमिति निर्णीतम् । तथा जैमिनिः चोदनासूत्रे (जै० १।१।२) विधिवाक्यं धर्मे प्रमाणमिति प्रतिज्ञाय औत्पत्तिकसूत्रे (जै० १।१।५) तत्प्रामाण्यं समर्थयामास । व्यासोऽपि 'शास्त्रयोनित्वात' (ब्र० सू० १।१। ३) इति सूत्रे वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यं प्रतिज्ञाय 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४), इत्यादिसूत्रैः समर्थयामास । तस्मात् अमीमांसकस्य तव पूर्वोक्तस्थाण्वन्धन्यायो दुष्परिहरः । अतो विधिभागस्य प्रामाण्यं सुस्थितम् ।

अर्थवादभागस्य प्रामाण्यं महता प्रयत्नेन जैमिनिः समर्थयामास । तत्सूत्राणि व्याख्यास्यन्ते । तत्र पूर्वपक्षं सूत्रयति—

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते (जै. १।२।१) इति ।

आम्नायस्य सर्वस्य क्रियाप्रतिपादनाय प्रवृत्तत्वाद् ।अक्रियाप्रतिपादकानामर्थवादानां नास्ति कश्चिद् विवक्षितः स्वार्थः । ते चार्थ-

---

वाक्यशेषात्' इस सूत्र में यह निर्णय किया गया है कि तैत्तिरीय वाक्य के असत् शब्द का अर्थ 'शून्य' नहीं है किन्तु अव्यक्तावस्थ है अर्थात् 'असतः सदजायत' में यह निर्णय किया गया है कि सत् का कारण शून्य नहीं था किन्तु वह अव्यक्तावस्था में विद्यमान था । इसी प्रकार जैमिनि ने चोदनासूत्र में 'विधिवाक्य धर्म में प्रमाण है' यह प्रतिज्ञा करके औत्पत्तिक सूत्र में उस विधिवाक्य के प्रामाण्य का समर्थन किया है । व्यास ने भी 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र में 'वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म में प्रामाण्य है' यह प्रतिज्ञा करके 'तत्तु समन्वयात्' इत्यादि सूत्रों के द्वारा उसका समर्थन किया है । इसलिए स्थाणु और अंधे आदमी का जो न्याय हम पहले कह चुके हैं वह मीमांसाशास्त्र से अनभिज्ञ आपके साथ अपरिहार्य है । जिस प्रकार यह स्थाणु का दोष नहीं होता कि अंधा आदमी उसे नहीं देखता अपितु अंधे पुरुष का दोष होता है, उसी प्रकार यह विधिभाग का दोष नहीं जो आप उनको अप्रामाणिक कह रहे हैं । यह तो मीमांसाशास्त्र से अनभिज्ञ आपका दोष है । इसलिए ब्राह्मण के विधिभाग का प्रामाण्य सुस्थित है ।

ब्राह्मण के अर्थवाद भाग का प्रामाण्य जैमिनि ने बहुत प्रयत्न से स्थापित किया है । एतद्विषयक जैमिनि-सूत्रों की व्याख्या करेंगे । पहले पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हैं—

पूर्वपक्ष—ब्राह्मण (अर्थवादभाग) का प्रामाण्य नहीं है ।

'वेद के क्रियार्थ (कर्मकाण्डपरक) होने से जो भाग क्रियार्थ (कर्मकाण्डपरक , नहीं वह अनर्थक है, इसलिए अनित्य कहलाता है ।'

वादा एवमाम्नायन्ते—'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै. सं. १।५।१।१); 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' (तै. सं. २।१।१।४); 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्' (तै. सं. ६।१।५।१) इति। यस्मादीदृशस्य वाक्यस्य विवक्षितोऽर्थः कश्चिदपि नास्ति तस्मादिदं वाक्यमनित्यमुच्यते। यद्यपि अनादित्वात् स्वरूपेणानित्यत्वं नास्ति, तथापि धर्मावबोधनलक्षणस्य नित्यकार्यस्याभावात् अनित्यैः काव्यालापैः समानत्वात् अप्रमाणमित्यर्थः।

ननु उदाहृतानामर्थवादानामनुष्ठेये धर्मे प्रामाण्याभावेऽपि स्वार्थे प्रामाण्यमस्तु। तत्प्रत्यायकत्वेन स्वतःप्रामाण्यस्य अपवदितुमशक्यत्वात् इत्याशङ्क्य अन्येषु केषुचिदर्थवादेषु मानान्तरविरोधदर्शनादप्रामाण्ये सति तद्दृष्टान्तेन सर्वेषामपि अर्थवादानामप्रामाण्यमित्यभिप्रेत्य सूत्रयति—

'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च' (जै. १।२।२) इति।

शास्त्रविरोधो दृष्टविरोधः शास्त्रदृष्टविरोधः इति त्रिविधो विरोधोऽ-

---

समग्र वेद के क्रिया (यज्ञ) के प्रतिपादन के लिए प्रवृत्त होने से क्रिया का प्रतिपादन न करने वाले अर्थवादों का अपना कोई विवक्षित अर्थ नहीं है अर्थात् संपूर्ण वेद यज्ञ की ओर प्रवृत्त करता है (वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः)। इसके विपरीत अर्थवाद-वाक्य यज्ञ की ओर प्रवृत्त नहीं करते, इसलिए वे अनर्थक हैं। और वे अर्थवाद इस प्रकार के हैं—'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (वह रुद्र रोया; जो रोया वही रुद्र का रुद्रत्व है); 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' (उसने अपनी वपा को उखाड़ डाला); 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्' (देवयज्ञ करके देवताओं ने दिशाओं को न जाना)। क्योंकि ऐसे वाक्यों का कोई भी विवक्षित अर्थ नहीं, इसलिए ऐसे वाक्य अनित्य कहलाते हैं। यद्यपि अनादि होने के कारण ये अर्थवाद-वाक्य स्वरूप से अनित्य नहीं हैं तथापि हमारा इन्हें अनित्य कहने का यह अर्थ है कि धर्माव-बोधन रूप नित्य कार्य का इन वाक्यों में अभाव होने के कारण ये वाक्य काव्यालापों के समान होने से अप्रमाण हैं (अन्य वेद-वाक्यों की भाँति अर्थवाद-वाक्य यज्ञरूपी धर्म के विषय में प्रवृत्त नहीं हैं, अतः ये अप्रमाण हैं)।

उदाहृत अर्थवाद-वाक्यों का अनुष्ठेय धर्म में प्रामाण्य न होने पर भी उनका अपने अर्थ में तो प्रामाण्य है। किसी न किसी अर्थ के बोधक होने के कारण इन अर्थवाद—वाक्यों के स्वतः प्रामाण्य का तो कोई निराकरण नहीं कर सकता है। ऐसी शङ्का करके कतिपय अन्य अर्थवादों में अन्य प्रमाणों का विरोध दिखलाई पड़ता है। इसलिए उनके अप्रामाण्य होने पर उनके दृष्टान्त से सभी अर्थवादों का अप्रामाण्य है, इस अभिप्राय से यह सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

'और शास्त्रदृष्टविरोध से'

र्थवादेषूपलभ्यते । तथा हि, 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्' इत्यत्र श्रूयमाणं मानसं चौर्यं वाचिकमनृतवदनं च प्रतिषेधशास्त्रेण विरुद्धम् । 'तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः तस्माद् अर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः' (तै. ब्रा. २।१।२) इत्यत्र दृष्टविरोधः । तथा 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' (मै. सं. १।४।११) इत्यत्रापि प्रत्यक्षविरोधः । 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिन् लोकेऽस्ति वा न वा' (तै. सं. ६।१।१।१) इत्यत्र शास्त्रदृष्टविरोधः । 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिशास्त्रे हि आमुष्मिकं फलं दृश्यते । तस्माद् विरोधादर्थवादानामप्रामाण्यम् ।

ननु 'सोऽरोदीत्' इत्यादीनां निष्प्रयोजनत्वात् 'स्तेनं मनः' इत्यादीनां च विरोधादप्रामाण्येऽपि फलप्रतिपादकानामर्थवादानां तदुभयवैलक्षण्यात् अस्तु प्रामाण्यम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'तथा फलाभावात्' (जै. १।२।३) इति ।

यथा मानान्तरविरुद्धमर्थवादैरुक्तं तथा फलमपि अविद्यमानमेव तैरुच्यते । तथा हि, गर्गत्रिरात्रं प्रकृत्य श्रूयते 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद'

शास्त्रविरोध, दृष्टविरोध तथा शास्त्रदृष्टविरोध यह तीन प्रकार का विरोध अर्थवाद-वाक्यों में उपलब्ध होता है । जैसे 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्' (मन चोर है, वाणी झूठ बोलने वाली है) इस वाक्य में श्रूयमाण मन का चोर होना और वाणी का झूठ बोलना 'चौर्यं न कर्त्तव्यम्' और 'नानृतं वदेत्' इस प्रतिषेध शास्त्र के विरुद्ध है अर्थात् शास्त्र तो कहता है कि चोरी नहीं करनी चाहिए और झूठ नहीं बोलना चाहिए और अर्थवाद—वाक्य कहता है कि मन चोर है और वाणी झूठ बोला करती है । इस अर्थवाद—वाक्य का शास्त्र-विरोध स्पष्ट है । 'तस्माद् धूम एव अग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः तस्माद् अर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः' (अग्नि का धूम ही दिन में दिखलाई पड़ता है लपटें नहीं, अग्नि की लपटें ही रात में दिखलाई पड़ती हैं धूम नहीं) इस अर्थवादवाक्य में दृष्टविरोध स्पष्ट है क्योंकि दिन और रात दोनों में लपटें और धूम दोनों ही दिखलाई पड़ते हैं । इसी प्रकार 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' (हम यह नहीं जानते कि हम ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण) इस अर्थवादवाक्य में प्रत्यक्ष का विरोध है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि वह ब्राह्मण है या अब्राह्मण । 'परलोक में कुछ है अथवा नहीं, कौन इसको जानता है' इस वाक्य में शास्त्र में देखी गई (कही गई) बात का विरोध है क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' इस शास्त्र में आमुष्मिक फल का प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार के विरोधों के होने के कारण अर्थवादों का अप्रामाण्य सिद्ध होता है ।

(ताण्ड्य ब्रा० २०।१६।६) इति । दर्शपूर्णमासयोर्वेदाभिमर्शनं प्रकृत्य श्रूयते 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' (तै० सं० १।७।४।६) इति । न च वयं वेदितॄणां तत्फलमुपलभामहे ।

ननु ऐहिकफलवाक्यानां विसंवादात् अप्रामाण्येऽपि आमुष्मिकफलवाक्यानामस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अन्यानर्थक्यात्' (जै० १।२४) इति ।

एवं हि श्रूयते—'पूर्णाहुत्या सर्वान्कामानवाप्नोति' (तै० ब्रा० ३।८।१०।५); 'पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानभिजयति'; 'तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (तै० सं० ५।३।१२।२) । तत्र अग्न्याधेयगतया पूर्णाहुत्या सर्वकामप्राप्तेरन्यानि अग्निहोत्रादीनि उत्तरकालीनानि अनर्थकानि स्युः । तथा निरूढपशुबन्धानुष्ठानेन सर्वलोकाभिजयात् ज्योतिष्टोमादीनामानर्थक्यम् । अध्ययनकालीनेनैव अश्वमेधवेदनेन ब्रह्महत्यादितरणात् तदनुष्ठानं च व्यर्थं स्यात् । तस्मादामुष्मिकफलवाक्यानामपि अप्रामाण्यम् ।

'सोऽरोदीत्' इत्यादि अर्थवाद-वाक्यों का (यज्ञ में) निष्प्रयोजन होने से और 'स्तेनं मनः' इत्यादि अर्थवाद-वाक्यों का अन्य प्रमाणों के साथ विरोध होने से अप्रामाण्य होने पर भी फल का प्रतिपादन करने वाले अर्थवाद-वाक्यों का प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिए क्योंकि ये फलप्रतिपादक अर्थवाद उपर्युक्त दोनों प्रकार के अर्थवादों से विलक्षण हैं । ऐसी आशंका प्रस्तुत करके उत्तर देते हैं—

'उसी प्रकार फल का अभाव होने से'

जिस प्रकार उपर्युक्त अर्थवाद अन्य प्रमाणों से विरुद्ध अर्थ को कहते हैं उसी प्रकार फलप्रतिपादक अर्थवाद ऐसे फल का प्रतिपादन करते हैं जो विद्यमान नहीं होता । उदाहरणस्वरूप गर्गत्रिरात्र यज्ञ के प्रसङ्ग में सुना जाता है 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' (जो इस प्रकार जानता है उसका मुख शोभित होता है); दर्शपूर्णमास में वेदाभिमर्शन के विषय में कहा गया है 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' (जो इस प्रकार जानता है उसकी प्रजा में सब अन्नवान् उत्पन्न होते हैं ।) परन्तु जानने वालों को ये फल उपलब्ध नहीं होते । जानने वालों का मुख शोभित होता दिखाई नहीं पड़ता और जानने वालों की प्रजा में ऐसे भी उत्पन्न होते हैं जो दाने-दाने के लिए तड़पते हैं । इसलिए फलप्रतिपादक अर्थवादों का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता ।

ननु मा भूत् फलवाक्यानां प्रामाण्यम्, तथापि निषेधवाक्येषु विरोधानुपलम्भादस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अभागिप्रतिषेधात्' (जै० १।२।५) इति।

'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' (तै० सं० ५।२।७।१) इत्यत्र अन्तरिक्षस्य च दिवश्च प्रतिषेधभागित्वं नास्ति, तत्र चयनप्रसङ्गस्यैव अभावात्।

मा भूत्तर्हि निषेधानां प्रामाण्यम्। 'बबरः प्रावाहणिरकामयत'

ऐहिक फल के प्रतिपादक वाक्यों का विसंवाद (मिथ्या) होने से अप्रामाण्य होने पर भी आमुष्मिक (पारलौकिक) फल के प्रतिपादक अर्थवाद-वाक्यों का प्रामाण्य है। ऐसी आशंका करके उत्तर देते हैं—

'अन्य कर्मों का आनर्थक्य होने से'।

इस प्रकार सुना जाता है–'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति' (पूर्णाहुति से सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है); 'पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानभिजयति' (पशुबन्ध यज्ञ करने वाला सभी लोकों को जीत लेता है = सभी लोकों को प्राप्त कर लेता है); 'तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (जो अश्वमेध से यज्ञ करता है और जो इसे जानता है वह व्यक्ति मृत्यु को पार कर जाता है, पाप को पार कर जाता है तथा ब्रह्महत्या को पार कर जाता है)। अग्न्याधेय में होने वाली पूर्णाहुति से ही सब कामनाओं की सिद्धि हो जाने पर उत्तरकालीन अन्य अग्निहोत्र आदि अनर्थक हो जाते हैं। उसी प्रकार निरूढपशुबन्ध के अनुष्ठान से ही जब सब लोकों की प्राप्ति हो जाती है तब ज्योतिष्टोम आदि का आनर्थक्य हो जाता है। अध्ययन-काल में प्राप्त अश्वमेध-ज्ञान से ही जब ब्रह्महत्यादि से छुटकारा मिल जाता है तब अश्वमेध का अनुष्ठान व्यर्थ ही होगा। इसलिए आमुष्मिक फल के प्रतिपादक वाक्यों का अप्रामाण्य सिद्ध होता है।

मान लेते हैं कि फलप्रतिपादक वाक्यों का प्रामाण्य नहीं है, तथापि निषेध-वाक्यों में विरोध की प्राप्ति न होने से उनका प्रामाण्य तो स्वीकार्य है। ऐसी आशंका करके उत्तर देते हैं—

'अप्राप्त अर्थ का निषेध करने से'।

'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' (न पृथिवी पर अग्नि-चयन करना चाहिए, न अन्तरिक्ष में और न द्युलोक में) यहाँ पर अन्तरिक्ष में तथा द्युलोक में अग्नि-चयन के प्रतिषेध करने की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि अन्तरिक्ष में तथा द्युलोक में अग्निचयन करने का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं हो सकता।

(तै. सं. ७।१।१०।२) इत्यादीनां पूर्वपुरुषवृत्तान्ताभिधायिनां विरोधानुपलम्भादस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अनित्यसंयोगात्' (जै० १।२।६) इति।

बबरादिरूपेण अनित्येनार्थेन संयोगे सति अस्य वाक्यस्य ततः पूर्वमभावात् कालिदासादिवाक्यवत् पौरुषेयत्वं प्रसज्येत।

किं बहुना ? सर्वथापि नास्त्येव अर्थवादानां प्रामाण्यम् इति पूर्वः पक्षः।

सिद्धान्तं सूत्रयति—

'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० १।२।७)। तुशब्दोऽर्थवादानामप्रामाण्यं वारयति। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्येवमादीनामर्थवादानां 'वायव्यं श्वेतमालभेत' (तै० सं० २।१।१।१) इत्यादिना विधिना सह एकवाक्यत्वाद् अस्ति धर्मे प्रामाण्यम्। न च विधिवाक्यस्य अर्थवादनैरपेक्ष्येण पदान्वयसम्पूर्तेस्तत्र अर्थवादानां नास्ति उपयोग इति शङ्कनीयम्। ते हि अर्थवादाः पुरुषप्रवृत्तिमाकाङ्क्षतां विधीनां स्तुत्यर्थत्वेनोपयुक्ताः स्युः। स्तुत्या च प्रलोभितः पुरुषः तत्र प्रवर्तते।

मान लिया निषेधों का भी प्रामाण्य नहीं तथापि पूर्व पुरुषों का अभिधान करने वाले 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यादि अर्थवाद-वाक्यों में विरोध प्राप्त न होने से उनका प्रामाण्य तो स्वीकार्य हो सकता है। ऐसी आशङ्का करके उत्तर देते हैं—

'अनित्य अर्थों के साथ संयोग होने से'।

बबर आदि अनित्य अर्थों के साथ संयोग होने पर यह सिद्ध हो जाता है कि इन वाक्यों का उन बबर आदि से पूर्व अभाव था जिससे इन वाक्यों का कालिदास आदि के वाक्यों की तरह पौरुषेयत्व ज्ञात होता है, जो युक्त नहीं।

और अधिक क्या कहें, किसी भी तरह अर्थवाद-वाक्यों का प्रामाण्य नहीं हो सकता। यहाँ पूर्वपक्ष समाप्त हुआ।

सिद्धान्तपक्ष—ब्राह्मण (अर्थवादभाग) का प्रामाण्य है।

'विधिभाग के साथ एकवाक्यता होने के कारण अर्थवाद-वाक्यों को विधि वाक्यों की स्तुति करने के लिए समझना चाहिए'।

'तु' शब्द अर्थवादों के अप्रामाण्य का वारण करता है। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवादों की 'वायु देवता के लिए श्वेत पशु का आलम्भन करें' इत्यादि विधि के साथ एकवाक्यता होने के कारण इन अर्थवाद-वाक्यों का धर्म (यज्ञ) में प्रामाण्य है। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि अर्थवाद-वाक्य की अपेक्षा किए बिना ही विधि-वाक्य के पदों के अन्वय की पूर्ति हो

ननु अर्थवादानां प्रमादपठितत्वेन उपेक्षणीयत्वात् किमनेन एकवाक्यताप्रयासेन इत्याशङ्क्याह—

'तुल्यं च सांप्रदायिकम्' (जै० १।२।८) इति।

अनध्यायवर्जनादिनियमपुरःसरं गुरुसम्प्रदायादध्ययनं यत् तत् साम्प्रदायिकम्। तच्च विधीनामर्थवादानां च समानम्। तस्मात् विधिवदेतेषामपि प्रमादपाठो न भवति।

ननु शास्त्रदृष्टविरोधाच्च इत्येवमर्थवादेषु अनुपपत्तिरुक्ता इत्याशङ्क्य आह—

'अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत (जै० १।२।९) इति।

'स्तेनं मनः' इत्यादौ शास्त्रविरोधाद्यनुपपत्तिरप्राप्ता, प्रयोगस्य अनुक्तत्वात्। प्रयोगे हि स्तेयादीनाम् उच्यमाने शास्त्रविरोधः स्यात्। न चात्र

जाती है, इसलिए अर्थवाद-वाक्यों का कोई उपयोग नहीं। क्योंकि पुरुषों की प्रवृत्ति की आकांक्षा करते हुए विधि-वाक्यों की स्तुति के हेतु अर्थवाद-वाक्य उपयुक्त होते हैं और स्तुति से प्रलोभित होकर पुरुष विधि-वाक्यों के द्वारा विहित अनुष्ठानों में प्रवृत्त होता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि अर्थवाद-वाक्यों का धर्म (यज्ञ, क्रिया) के साथ साक्षात् संबन्ध नहीं तथापि वे धर्म (यज्ञ) का असाक्षात् रूप से उपकार करते हैं। अनुष्ठान का विधान करते हुए विधि-वाक्य की आकांक्षा होती है कि पुरुष उस अनुष्ठान में प्रवृत्त होवे किन्तु आलस्यादि के वशीभूत पुरुष अनुष्ठानों में प्रवृत्त नहीं होता। अर्थवाद-वाक्य विधि-वाक्यों के द्वारा विहित अनुष्ठानों की स्तुति (प्रशंसा) करते हैं और इन स्तुतियों से प्रलोभित होकर पुरुष इन अनुष्ठानों की ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार विधि-वाक्यों के साथ एकवाक्यता को प्राप्त कर अर्थवाद-वाक्य धर्म (अनुष्ठान, यज्ञ) में प्रामाण्य प्राप्त करते हैं।

अर्थवाद-वाक्यों को श्रुति में प्रमादवश पढ़ दिया गया है अतः वे उपेक्षणीय हैं; तब इन अर्थवाद-वाक्यों की विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता स्थापित करने का प्रयास व्यर्थ है यह आशङ्का करके उत्तर देते हैं—

'साम्प्रदायिकता दोनों में समान है'।

अनध्याय में पठन-पाठन का न करना इत्यादि नियमों के साथ गुरुपरम्परा से जो अध्ययन चला आता है उसे साम्प्रदायिक कहते हैं और वह साम्प्रदायिक अध्ययन विधि-वाक्यों और अर्थवाद-वाक्यों इन दोनों के लिए समान है। इसलिए विधि-वाक्यों की तरह अर्थवाद-वाक्य भी श्रुति में प्रमाद से नहीं पढ़े गए हैं।

स्तेयं कर्त्तव्यमिति प्रयोग उच्यते, किंतु स्तेयशब्दार्थ एव उच्यते। न च स्तेयशब्दार्थः प्रयोगभूतः। तस्मात् शब्दार्थवचनमात्रेण शास्त्रविरोधाभावादयमर्थवादः उपपन्नः एव।

ननु 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति यदुक्तं तदसत्, वैयधिकरण्यात्। 'वेतसशाखयां चावकाभिश्चाग्निं विकर्षत्यापो वै शान्ताः' (तै० सं० ५।४।४।३) इत्यत्र वेतसावके विधीयेते आपश्च स्तूयन्ते इति वैयधिकरण्यमित्याशङ्क्याह—

'गुणवादस्तु' (जै० १।२।१०) इति।

तुशब्दो वैयधिकरण्यदोषं वारयति। गुणवादो ह्यत्र विवक्षितः। यथा

पूर्वपक्षी ने 'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च' इस सूत्र से अर्थवाद वाक्यों में जो अनुपपत्ति (असंगति) बतलाई थी उसका परिहार इस सूत्र से करते हैं— 'अनुपपत्ति प्राप्त नहीं, प्रयोग कहे जाने पर विरोध होता, शब्द का अर्थ तो प्रयोग के लिए नहीं, इसलिए अर्थवाद उपपन्न है'।

'स्तेनं मनः' इत्यादि अर्थवादों में जो शास्त्रविरोध आदि अनुपपत्ति (असंगति) बतलाई गई थी वह प्राप्त ही नहीं क्योंकि इनका प्रयोग करने को तो नहीं कहा गया है। यदि स्तेय आदि का प्रयोग कहा जाता तो शास्त्र से विरोध होता। यहाँ पर 'स्तेयं कर्तव्यम्' (चोरी करनी चाहिए) ऐसा प्रयोग नहीं कहा गया है किन्तु स्तेय शब्द का अर्थ ही कहा गया है और स्तेय शब्द का अर्थ प्रयोग करने के लिए नहीं कहा गया है। इसलिए शब्द के अर्थ के कथन मात्र से शास्त्र से विरोध नहीं होता। इस प्रकार यह अर्थवाद उपपन्न (संगत) है।

उपर्युक्त प्रथम सूत्र में जो कहा था कि अर्थवाद-वाक्य विधि-वाक्यों के द्वारा विहित अनुष्ठानों अथवा पदार्थों की स्तुति (प्रशंसा) करते हैं, वह यथार्थ नहीं है क्योंकि उन दोनों में वैयधिकरण्य होता है अर्थात् विधि वाक्य में विधान किसी और का किया जाता है और अर्थवाद-वाक्य में प्रशंसा किसी और की ही की जाती है। 'वेतसशाखया चावकाभिश्चाग्निं विकर्षति आपो वै शान्ताः' (वेतस शाखा और शैवाल से अग्निनामक स्थण्डिल का विकर्षण करे क्योंकि जल शान्त होते हैं) इस वाक्य में वेतस शाखा और शैवाल का विधान किया गया है और स्तुति (प्रशंसा) की गई है जलों की। इस प्रकार यहाँ स्पष्टतया वैयधिकरण्य है। इस आशङ्का को प्रस्तुत करके उत्तर देते हैं—

'गुण का कथन किया गया है'।

'तु' शब्द वैयधिकरण्य दोष का वारण करता है। यहाँ गुणवाद विवक्षित

लोके कश्मीराभिजनो देवदत्तः कश्मीरदेशेषु स्तूयमानेषु स्तुतमात्मानं मन्यते, एवमत्रापि अद्भ्यो जाते वेतसावके अप्सु स्तुतासु स्तुते एव भवतः। शान्ताभ्योऽद्भ्यो जातत्वात् वेतसावके स्वयमपि शान्ते सत्यौ यजमानस्यानिष्टं शमयतः इत्येतादृशस्य गुणस्य वादोऽत्र अभिप्रेतः।

'सोऽरोदीत्' इत्यत्रापि रजतस्य पतिताश्रुरूपत्वाद् रजतदाने गृहेऽपि रोदनप्रसङ्गाद् 'बर्हिषि रजतं न देयम्' (तै० सं० १।५।१।२) इति तन्निषेधेन विधेयेनार्थवादस्यैकवाक्यत्वम्। तत्र रजतदानाभावे रोदनाभावरूपो गुणोऽत्र विवक्षितः तेन च गुणेन रजतदाननिवारणरूपो विधिः स्तूयते। यद्यपि रजतस्य अश्रुप्रभवत्वमत्यन्तमसत् तथापि यथोक्तरीत्या विधेः स्तुतिः सम्पद्यते।

'यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत' (तै० सं० २।१।१।४, ५) इत्ययं विधिः प्रजापतिवपोत्खेदेन स्तूयते।

है। जिस प्रकार लोक में काश्मीर का रहने वाला देवदत्त काश्मीर प्रदेश की प्रशंसा किए जाने पर ऐसा समझता है कि उसी की प्रशंसा की गई है, उसी प्रकार यहाँ भी जलों की प्रशंसा होने पर जल से उत्पन्न वेतस और अवका (शैवाल) की भी प्रशंसा हो जाती है। शान्त जलों से उत्पन्न होने के कारण वेतस और अवका-ये दोनों-स्वयं भी शान्त होती हुई यजमान के अनिष्ट को शान्त कर देती हैं। इस प्रकार के गुण का कथन यहाँ पर अभिप्रेत (अभीष्ट) है

'सोऽरोदीत्' इस अर्थवाद-वाक्य की भी 'बर्हिषि रजतं न देयम्' (यज्ञ में यजमान चाँदी की दक्षिणा न दे) इस निषेधरूप विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता सम्पन्न हो जाती है क्योंकि यह विधिवाक्य रजतदान का निषेध करता है और अर्थवाद-वाक्य भी रजतदान की निन्दा करता हुआ कहता है कि रजत गिरते हुए आँसुओं के रंग का होता है और इसलिए रजत का दान करने पर घर में रोदन का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। 'इस अर्थवाद में रजतदान के अभाव में रोदनाभाव रूप गुण विवक्षित है अर्थात् इस वाक्य का यह तात्पर्य है कि यदि रजत का दान न किया जाय तो रोदन का प्रसङ्ग भी उपस्थित नहीं होगा। और इस गुण के द्वारा रजतदान का निवारण करने वाली विधि की स्तुति हो जाती है। यद्यपि यह नितान्त अवास्तविक बात है कि रजत अश्रु को उत्पन्न करता है तथापि जैसे हमने ऊपर कहा है इस अर्थवाद-वाक्य से विधि की स्तुति तो हो ही जाती है।

'यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत' (जो प्रजा की कामना करे अथवा पशु की कामना करे वह प्रजापतिदेवताक

यस्मात् प्रजापतिः स्ववपामपि उत्खिद्य अग्नौ प्रहृत्य ततो जातं तूपरम् अजम् आत्मार्थम् आलभ्य प्रजाः पशूँश्च लब्धवान् तस्मात् प्रजादिसम्पादको ऽयं तूपरः इति तूपरगुणस्य वादोऽत्र विवक्षित. ।

'आदित्यः प्रायणीयश्चरुः' (तै० सं० ६।१।५।१) इत्येष विधिः 'दिशो न प्राजानन्' इत्यनेन दिङ्मोहेन स्तूयते। यथेयम् अदितिर्देवता दिङ्मोहमपि अपनीय दिग्विशेषं ज्ञापयति, तथा बहुविधकर्मसमुदायरूपे सोमयागे अनुष्ठानविषयं भ्रममपनयतीति किमु वक्तव्यमित्येवमदितिदेवतागतस्य गुणस्य वादोऽत्र विवक्षितः। स्वकीयवपोत्खेदो देवयजनाध्यवसानमात्रेण दिङ्मोहश्च इत्युभयमस्तु वा मा वा, सर्वथापि स्तुतिपरत्वम् अभ्युपगच्छताम् अस्माकं न किञ्चिद् हीयते। 'शिखा ते वर्धते वत्स गुडूचीं श्रद्धया पिब' इत्यादौ अविद्यमानेनापि अर्थेन लोके स्तुतिदर्शनात्।

तूपर-शृङ्गविहीन, बिना सींग वाले-अज का वध करे) यह विधिवाक्य है जिसकी प्रशंसा 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' इस अर्थवाद वाक्य में प्रजापति के वपोत्खेद (वपा फाड़ डालने) के द्वारा हुई है। क्योंकि प्रजापति ने अपनी वपा को फाड़कर अग्नि में हवन करके उससे उत्पन्न हुए शृङ्गविहीन अज का अपने लिए आलम्भन (वध) करके प्रजाओं और पशुओं को प्राप्त किया, इसलिए यह शृङ्गविहीन अज प्रजा आदि का सम्पादन करने वाला है। इस प्रकार इस अर्थवाद-वाक्य में शृङ्गविहीन अज के गुण का कथन करना विवक्षित है।

'आदित्यः प्रायणीयश्चरुः' यह विधि-वाक्य है जिसकी स्तुति 'दिशो न प्राजानन्' इस अर्थवाद-वाक्य में दिङ्मोह के कथन के द्वारा की गई है। जिस प्रकार यह अदिति देवता दिङ्मोह को भी दूर करके दिग्विशेष का ज्ञान कराती है, उसी प्रकार यह तो बिना कहे ही सिद्ध होता है कि बहुत प्रकार के कर्मों के समुदायरूप सोमयाग में अनुष्ठान विषयक भ्रम को वह अदिति देवता दूर करती है। इस प्रकार इस अर्थवाद वाक्य में अदिति देवता के गुण का कथन करना विवक्षित है। प्रजापति ने अपने माँस को फाड़ा हो अथवा न फाड़ा हो, देवयज्ञ सम्पन्न करने मात्र से देवताओं को दिङ्मोह हुआ हो, अथवा न हुआ हो, अर्थवादों को सर्वथा स्तुतिपरक मानने वाले हम लोगों का किसी भी तरह कुछ नहीं घट जाता, क्योंकि प्रशंसा तो विद्यमान और अविद्यमान दोनों ही के द्वारा हो सकती है। 'शिखा ते वर्धते वत्स गुडूची श्रद्धया पिब' (हे बेटा, गुडूची को मन से पी, तेरी चोटी बढ़ जायेगी) इत्यादि उदाहरणों में लोक में अर्थ के अविद्यमान होने

अथ पूर्वपक्षिणा शास्त्रविरोधं दर्शयितुं यदुदाहृतं 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाग्' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'रूपात् प्रायात्' (जै० १।२।११) इति।

'हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृभ्णाति (मै. सं. ४।८।२।३) इत्येतं विधिं स्तोतुमयमर्थवाद उच्यते। यथा लोके 'किमृषिणा देवदत्त एव पूजयितव्यः' इत्यत्र देवदत्तपूजां स्तोतुमेव औदासीन्यमृषौ उपन्यस्यते, न तु पूज्यत्वमृषेर्वारयितुम्, एवमत्रापि हस्ते हिरण्यग्रहणं प्रशंसितुं मनसः स्तेनरूपत्वं वाचोऽनृतवादित्वं चोपन्यस्यते। तत्र गुणवादेन शब्दार्थो योजनीयः। यथा स्तेनाः प्रच्छन्नरूपा एवं मनोऽपीति प्रच्छन्नरूपत्वमत्र गुणः। प्रायेण वागनृतं वक्ति इति प्रायिकत्वं तत्र गुणः। हस्तस्तु न प्रच्छन्नो नापि अनृतबहुलः। अतो हस्ते हिरण्यधारणं प्रशस्तमिति स्तूयते।

यदपि दृष्टविरोधाय 'धूम एव अग्नेर्दिवा ददृशे' इत्यादिकमुदाहृतं तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'दूरभूयस्त्वात्' (जै. १।२।१२)।

पर भी प्रशंसा की गई दिखलाई देती है अर्थात् यद्यपि गुडूची पीने से शिखा नहीं बढती तथापि शिखा बढ़ने की अविद्यमान बात कहकर गुडूची की इस प्रकार की प्रशंसा लोक में की जाती है।

पूर्वपक्षी द्वारा शास्त्रविरोध को दिखलाने के लिए 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्' यह जो उदाहरण दिया गया था उसका उत्तर सूत्रित करते हैं—

'प्रायिक रूप से'।

'हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृभ्णाति' (हिरण्य हाथ में होता है तब ग्रहण करता है) इस विधि-वाक्य की स्तुति करने के लिए 'स्तेनं मनः' इस अर्थवाद को कहा गया है। जिस प्रकार लोक में "ऋषि से क्या प्रयोजन ? देवदत्त की ही पूजा करनी चाहिए" ? यहाँ पर देवदत्त की पूजा की प्रशंसा करने के लिए ही ऋषि में उदासीनता प्रकट की गई है, न कि ऋषि के पूज्यत्व के निवारण के लिए, उसी प्रकार प्रकृत में हाथ में सुवर्ण ग्रहण करने की प्रशंसा करने के लिए मन का चोर होना और वाणी का झूठ बोलना उपन्यस्त किया गया है। यहाँ पर गुण के कथन से शब्दों के अर्थों की योजना कर लेनी चाहिए। जिस प्रकार चोर छिपे रहते हैं उसी प्रकार मन भी छिपा रहता है। छिपे रहना यहाँ पर दोनों का समान गुण है। वाणी बहुधा झूठ बोलने के स्वभाव वाली है। प्रायिकत्व यहाँ पर गुण है। हाथ तो न छिपा रहता है और न प्रायः झूठा है।

'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः' इत्येतौ विधी (ऐ० ब्रा० ५।५।६) स्तोतुं सोऽर्थवादः। यस्मात् अर्चिर्दिवा न दृश्यते तस्मात् सूर्यमन्त्र एव प्रातः प्रयोक्तव्यः। यस्मात् रात्रावर्चिरेव दृश्यते तस्मादग्निमन्त्रो रात्रौ प्रयोक्तव्यः सूर्यमन्त्रश्च दिवा। इत्येवं तयोर्मन्त्रयोः स्तुतिः। धूमार्चिषोरदर्शनोपन्यासस्तु दूरभूयस्त्वगुणनिमित्तः। भूयसि हि दूरे पर्वताग्रे वृक्षादयोऽपि न विस्पष्टं दृश्यन्ते, किंतु तृणसादृश्येन तेषां दर्शनाभास एव। तद्वद् अत्रापि।

यदप्यन्यद् दृष्टविरोधाय उदाहृतं 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'स्त्र्यपराधात् कर्त्तुश्च पुत्रदर्शनात्' (जै० १।२।१३) इति। 'प्रवरे प्रव्रियमाणे ब्रूयाद् देवाः पितरः' (मै० सं० १।४।११) इत्यस्य विधेः स्तावकोऽयमर्थवादः। यदि यजमानो 'देवाः पितरः' (तै० ब्रा० ३।७।५।४) इत्यादिमन्त्रेण प्रवरमनुमन्त्रयेत् तदानीमब्राह्मणोऽपि ब्राह्मणो भवेदिति अनुमन्त्रणस्य स्तुतिः। 'न चैतद् विद्मः' इत्येतदज्ञानवचनं दुर्ज्ञानत्वगुणेन तत्र प्रयुज्यते। यत्र स्त्रिया अपराधो भवति तत्र कर्त्तुरुत्पा-

---

इसलिए हाथ में सुवर्ण धारण करना सबसे अच्छा है, इसकी स्तुति इस अर्थवाद-वाक्य में की गई है।

पूर्वपक्षी ने अर्थवाद में दृष्टिविरोध को दिखलाने के लिए 'अग्नि का धूम ही दिन में दिखलाई पड़ता है' यह जो उदाहरण दिया था उसका उत्तर सूत्रित करते हैं—

'दूर होने से'।

'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः' इन दो विधि-वाक्यों की स्तुति करने के लिए यह अर्थवाद है। क्योंकि दिन में अग्नि की ज्वाला (लपटें) दिखलाई नहीं देती, इसलिए प्रातःकाल में सूर्य के मन्त्र का ही प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि रात्रि में अग्नि की ज्वाला ही दिखलाई पड़ती है, इसलिए रात्रि में अग्नि के मन्त्र का प्रयोग करना चाहिए और सूर्य के मन्त्र का प्रयोग दिन में करना चाहिए। इस प्रकार प्रकृत अर्थवाद-वाक्य के द्वारा इन दोनों विधियों की स्तुति की गई है और जो यह कहा गया है कि धूम रात्रि में दिखाई नहीं देता और ज्वाला दिन में दिखाई नहीं देती, वह दोनों अधिक दूर होने के कारण कहा गया है क्योंकि अत्यधिक दूरवर्ती पर्वत के अग्रभाग पर अवस्थित वृक्ष आदि भी स्पष्टरूपेण दिखलाई नहीं पड़ते किन्तु तिनकों के समान उनका दर्शनमात्र प्रतीत होता है। उसी प्रकार

दयितुर्जारस्यापि पुत्रो दृश्यते। अतः पत्युपपत्योरुभयोः पुत्रदर्शनात् स्वकीयजन्म कीदृशमिति दुर्ज्ञानम्। अनेनाभिप्रायेण प्रयुक्तत्वात् नास्ति तत्र दृष्टविरोधः। न हि तत्र दृश्यमानं स्वब्राह्मण्यमपवदितुं 'न चैतद् विद्मः' इत्युपन्यस्तम्।

यदपि शास्त्रीयदर्शनविरोधाय उदाहृतं 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वा' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'आकालिकेप्सा' (जै० १।२।१४) इति।

'दिद्वतीकाशान् करोति' (तै० सं० ६।१।१।१) इति प्राचीनवंशस्य द्वारविधिः। तस्य शेषोऽयं 'को हि तद् वेद' इति। धूमाद्युपद्रवपरिहारेण प्रत्यक्षेण फलेन द्वारविधिः स्तूयते। स्वर्गप्राप्तिरूपं तु फलमाकालिकम्। अकाले भवमाकालिकं विप्रकृष्टकालीनं, न तु इदानीन्तनमित्यर्थः। तस्य ईप्सा

प्रकृत स्थल में समझ लेना चाहिए अर्थात् रात्रि में जब हम किसी अत्यधिक दूरवर्ती स्थान पर अग्नि को जलता हुआ देखते हैं तो उसकी लपटें ही दिखलाई पड़ती हैं और जब हम दिन में देखते हैं तो अग्नि का धूम ही दिखलाई पड़ता है। यह प्रतिदिन का अनुभव है।

पूर्वपक्षी ने अर्थवाद में दृष्टविरोध को दिखलाने के लिए 'हम नहीं जानते कि हम ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण' इस दूसरे वाक्य को जो उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया था उसका उत्तर सूत्रित करते हैं—

'स्त्री के अपराध के कारण जार (उपपति) का भी पुत्र दिखलाई पड़ता है'।

'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' यह अर्थवाद-वाक्य 'प्रवरे प्रव्रियमाणे ब्रूयाद् देवाः पितरः' (जब अध्वर्यु यजमान के मूल ऋषियों के नामों को बोले तब यजमान 'देवाः पितरः' मन्त्र से उन नामों का उच्चारण करे) इस विधि-वाक्य की प्रशंसा करता है। यदि यजमान 'देवाः पितरः' इत्यादि मन्त्र के द्वारा प्रवर का अनुमन्त्रण करे तो उस समय वह अब्राह्मण होने पर भी ब्राह्मण हो जाता है यह अनुमन्त्रण की प्रशंसा की गई है। 'न चैतद् विद्मः' इस अर्थवाद-वाक्य में जो अज्ञान प्रकट किया गया है वह दुर्ज्ञानत्व गुण को दृष्टि में रखकर प्रयुक्त है अर्थात् यह वाक्य प्रकट करता है कि यह जानना अत्यन्त कठिन है कि कोई व्यक्ति वास्तव में ब्राह्मण ही है। जहाँ स्त्री का अपराध हो जाता है वहाँ पुत्रोत्पादक जार (उपपति) का भी पुत्र दिखलाई पड़ता है। स्त्री को पति और उपपति दोनों से पुत्रोत्पत्ति हो सकती है, इसलिए स्वकीय जन्म कैसा है, यह जानना अत्यन्त कठिन है। इस अभिप्राय से प्रयुक्त होने के कारण यह अर्थवाद-

प्राप्तुमिच्छा। सा च 'को हि तद् वेद' इति अनिश्चयोपन्यासे कारणम्। यथा भाविकालीनः पौत्रप्रपौत्रादिवृत्तान्तो निश्चेतुं न शक्यते, तद्वत् स्वर्गप्राप्तिर्भाविकालीनेति गुणयोगादनिश्चयोपन्यासः। धूमादिपरिहारस्तु प्रत्यक्षत्वात् निश्चित इत्यभिप्रायः।

यदप्यन्यत् दृष्टविरोधाय उदाहृतं 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' (ता०-म० ब्रा० २०।१६।६) इति, तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'विद्याप्रशंसा' (जै० १।२।१५) इति।

सोऽयं गर्गत्रिरात्रविधेः शेषः। तद्विषयं वेदनमपि मुखशोभाहेतुः, किमुत अनुष्ठानमिति स्तूयते। यथा कर्णाभरणादिना मुखं शोभितं

वाक्य दृष्ट (प्रत्यक्ष) से विरुद्ध नहीं है। अपने प्रत्यक्ष ब्राह्मणत्व का निषेध करने के लिए 'न चैतत् विद्मः' यह अर्थवाद-वाक्य उपन्यस्त नहीं किया गया है।

पूर्वपक्षी ने अर्थवाद का शास्त्रीयदर्शन के साथ विरोध दिखलाने के लिए 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिंल्लोकेऽस्ति वा न वा' (परलोक में फल होता है अथवा नहीं, कौन इसको जानता है) जो इस उदाहरण को दिया था उसका उत्तर सूत्रित करते हैं—

'आकालिक फल को प्राप्त करने की इच्छा'।

'दिग्वतीकाशान् करोति' (यज्ञशाला की चारों दिशाओं में द्वार करे) यह प्राचीन वंश नामक यज्ञमण्डप के द्वार के निर्माण की विधि है। 'को हि तद्वेद' यह वाक्य द्वारविधि का शेष (पूरक, स्तावक, अर्थवाद) है। धूम आदि उपद्रवों के परिहाररूप प्रत्यक्ष फल के द्वारा द्वार-विधि की प्रशंसा की गई है। स्वर्गप्राप्ति रूप फल तो आकालिक है। आकालिक का अर्थ है अकाल में होने वाला अर्थात् भविष्य में बहुत बाद में होने वाला; तत्काल में न होने वाला। उस आकालिक फल को प्राप्त करने की इच्छा ही है आकालिकेप्सा। और यह इच्छा ही 'को हि तद् वेद' में प्रतिपादित अनिश्चय का कारण है। जिस प्रकार भविष्य काल में होने वाले पौत्र, प्रपौत्र आदि के वृत्तान्त का निश्चय नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार भविष्य में होने वाली स्वर्गप्राप्ति का भी निश्चय नहीं किया जा सकता। इसी गुण के कारण अर्थवाद-वाक्य में अनिश्चय का उपन्यास किया गया है। धूम आदि का परिहार तो प्रत्यक्ष होने के कारण निश्चित है, यह अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि परलोक में स्वर्ग होता है या नहीं इसको निश्चित रूप से कोई नहीं जानता। वर्तमान समय में धूम का मुखादि में प्रवेश होने पर शीघ्र ही मरण होगा, इसलिए धूमनिर्गमनार्थ चारों दिशाओं में द्वारों को करना चाहिए। अनिश्चित स्वर्गरूप फल के लिए तत्काल

भवति, एवं वेदितुरुत्साहेन विकसितं वदनं शोभितमिव शिष्यैरुद्वीक्ष्यते। अतः शोभासादृश्यगुणयोगात् 'शोभते' इत्युच्यते।

यदप्यन्यद् विरोधाय उदाहृतम् 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' सोऽपि वेदानुमन्त्रणविधेः शेषः। अत्रापि कैमुतिकन्यायेन स्तुतिः पूर्ववद् योजनीया। वेदितुः पुत्रः पितृशिक्षया स्वयमपि विद्वान् भवति। ततः प्रतिग्रहेण अन्नं प्राप्नोति। तस्मादीदृशं गुणमभिप्रेत्य 'वाजी जायते' इत्युक्तम्।

यदप्यन्यानर्थक्याय उदाहृतं 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'सर्वत्वमाधिकारिकम्' (जै० १।२।१६)।

प्रत्यक्षरूपेण प्राप्त होने वाले फल की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इस अर्थवाद का तात्पर्य शास्त्रदर्शन का विरोध करने में नहीं अपितु यह वाक्य स्वर्ग के अनिश्चय को बतलाकर द्वार-निर्माण की स्तुति करता है। इसलिए द्वार-निर्माण आवश्यक है।

पूर्वपक्षी ने अर्थवाद के दृष्टविरोध के लिए 'उसका मुख शोभित होता है जो ऐसा जानता है' यह जो दूसरा उदाहरण दिया था उसका उत्तर सूत्रित करते हैं—'यह विद्या की प्रशंसा है'।

यह अर्थवादवाक्य गर्गत्रिरात्र की विधि का शेष (पूरक, स्तावक) है। गर्गत्रिरात्र यज्ञ का जान लेना भी मुखशोभा का कारण होता है, उसके अनुष्ठान का तो कहना ही क्या! इस प्रकार गर्गत्रिरात्र की स्तुति हो जाती है। जिस प्रकार कर्णाभरण आदि के द्वारा मुख शोभित होता है, उसी प्रकार यज्ञ के जानने वाले का उत्साह से विकसित मुखमण्डल शिष्यों के द्वारा सुशोभित देखा जाता है। इसलिए शोभा गुण के सादृश्य को दृष्टि में रखकर 'शोभते' शब्द का प्रयोग किया गया है।

पूर्वपक्षी ने विरोध को दिखाने के लिए 'इसकी सन्तान में अन्नवान् उत्पन्न होता है जो ऐसा जानता है' जो यह दूसरा उदाहरण दिया था यह भी वेदानुमन्त्रण विधि का स्तावक है। यहाँ पर भी पहले की तरह कैमुतिक न्याय से स्तुति की योजना कर लेनी चाहिए (अर्थात् जान लेने से ही जब वाजी अन्नवान् उत्पन्न होता है तब अनुष्ठान का कहना ही क्या!) जानकार का पुत्र पिता की शिक्षा से स्वयं भी विद्वान् हो जाता है। तत्पश्चात् प्रतिग्रह (दान) के द्वारा अन्न प्राप्त करता है। इसलिए ऐसे गुण को दृष्टि में रखकर ही अर्थवाद में 'वाजी जायते' यह कहा गया है।

पूर्वपक्षी ने उत्तरकालीन अग्निहोत्र आदि अन्य कर्मों के आनर्थक्य के

'पूर्णाहुतिं जुहुयाद्' इत्यस्य विधेः शेषोऽयम्। सर्वकामावाप्तिहेतुत्वात् प्रशस्तेयमाहुतिरिति स्तूयते। यथा सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्र सर्वत्वं स्वगृहागतब्राह्मणविषयम्। एवं पूर्णाहुत्या कर्मसाङ्गत्वे यत् फलं तस्मिन् अधिकारे प्रस्तावे सम्भावितं तद्विषयमेव सर्वत्वं द्रष्टव्यम्। पूर्णाहुतेरभावे सति आधानरूपं कर्म अङ्गविकलं भवति। तच्च वैकल्यं पूर्णाहुत्या समाधीयते इत्येकः कामः। तस्मिन् समाहिते सति आहवनीयाद्यग्नयोऽग्निहोत्रादिकर्मसु योग्या भवन्ति इत्ययमन्यः कामः। तैश्च कर्मभिस्तत्तत् फलं प्राप्यते इति कामान्तरम्। ईदृशी सर्वकामावाप्तिराहुत्यन्तरेष्वपि विद्यते इति चेत् विद्यतां नाम। किं नश्छिन्नम्। न खल्वेतावता पूर्णाहुतिस्तुतेः काचिद् हानिः अस्ति।

ननु पूर्णाहुतेरङ्गभावत्वात् तदीयफलश्रुतेरर्थवादत्वेन स्तावकत्वं

प्रसङ्ग को दिखलाने के लिए 'पूर्णाहुति से सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है' यह जो उदाहरण दिया था उसका उत्तर सूत्रित करते हैं—

'सर्व शब्द आधिकारिक है अर्थात् प्रस्तावित विषय की सम्पूर्णता का द्योतक है'।

यह अर्थवाद 'पूर्णाहुति को होम में डाले' इस विधि-वाक्य का शेष है। सभी कामनाओं की प्राप्ति का हेतु होने से यह आहुति प्रशंसनीय है, इस प्रकार यहाँ आहुति की स्तुति की गई है। जैसे 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः' (सब ब्राह्मणों को खिलाया जाय) इस लौकिक वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि संसार के समस्त ब्राह्मणों को खिलाया जाय अपितु इसका यही अर्थ है कि अपने घर पर आए हुए सभी ब्राह्मणों को खिलाया जाय। इसी प्रकार पूर्णाहुति के द्वारा कर्म का साङ्गत्व सम्पन्न होने पर जो फल उस अधिकार=प्रस्ताव में सम्भावित है तद्विषयक ही सर्व शब्द को समझना चाहिए। पूर्णाहुति का अभाव होने पर आधानरूप कर्म अङ्गविकल हो जाता है और पूर्णाहुति उस अङ्गवैकल्य का समाधान कर देती है, यह एक कामना प्राप्त हो जाती है। अङ्गवैकल्य का समाधान हो जाने पर आहवनीय आदि अग्नियाँ अग्निहोत्र आदि कर्मों के योग्य हो जाती हैं, यह दूसरी कामना प्राप्त होती है और उन कर्मों से तत् तत् फल प्राप्त होता है, यह एक और कामना प्राप्त होती है। यदि कोई कहे कि सब कामनाओं की ऐसी प्राप्ति तो दूसरी आहुतियों से भी होती है, तो इस विषय में हमारा कहना है कि होने दीजिए। इससे हमारा क्या बिगड़ जाता है? इससे पूर्णाहुति की स्तुति की कोई हानि नहीं होती।

पूर्णाहुति के अङ्गकर्म होने से उसकी फलश्रुति अर्थवाद के रूप में विधि-

भवतु, 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः' (जै० ४।३।१) इति सूत्रेण निर्णीतत्वात्। पशुबन्धवाक्यस्य तु कर्मविधायकत्वात् सर्व-लोकाभिजयस्य मुख्यफलत्वाद् अन्यानर्थक्यं दुर्वारम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्' (जै० १।२।१७) इति।

पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अन्यतमलोकाभिजयरूपं फलं पशुबन्धकर्मणा निष्पाद्यते। तेषां च पृथिव्यादीनां फलानां कर्मान्तरेण परिमाणाधिक्यं सारत्वं वा सम्पद्यते। ततः फलविशेषः स्यादिति नास्ति आनर्थक्यम्। लोकवत् इत्युक्तार्थे दृष्टान्तः। यथा लोके निष्केण खारीपरिमितान् व्रीहीन् विक्रीय निष्कान्तरेण पुनः क्रये सति परिमाणाधिक्यं भवति, यथा वा निष्केण वस्त्रमात्रं लभ्यते निष्कद्वयेन तु सारभूतं दुकूलम्। तथा भोगाधिक्यं भोगसारत्वं वा कर्मान्तरेण द्रष्टव्यम्। ब्रह्महत्याया अपि

वाक्य की प्रशंसा करने वाली हो सकती है जैसा कि जैमिनि ने इस सूत्र से निर्णय किया है 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः' (द्रव्य, संस्कार तथा कर्मों के परार्थ—कर्त्तव्य—होने से उनमें जो फल सुना जाता है वह अर्थवाद मात्र है) किन्तु पशुबन्ध-वाक्य तो मुख्य कर्म का विधायक है जिससे सर्व-लोकजय भी मुख्य फल है। इस कारण उसको अर्थवाद अर्थात् प्रशंसा मात्र नहीं माना जा सकता। इसलिये पशुबन्ध याग से समस्त फल प्राप्त हो जाने से अन्य कर्म वृथा हो जाते हैं, इस तथ्य का निवारण नहीं किया जा सकता। यह शङ्का उपस्थित करके उत्तर देते हैं—

'कर्म की निष्पत्ति से फल होता है। लोक की तरह उन कर्मों के परिमाण तथा सार से फल में भी विशेषता आ जाती है'।

पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इनमें से अन्यतम (किसी एक) पर विजय रूप फल पशुबन्ध कर्म द्वारा निष्पन्न होता है और कर्मान्तर द्वारा उन पृथिवी आदि फलों का प्रमाणाधिक्य एवं सारत्व सम्पन्न होता है। इसलिये अन्य कर्मों से फल में वैशिष्ट्य आ जाता है, इसलिये वे अनर्थक नहीं हैं। उक्त अर्थ में दृष्टान्त देते हैं। जिस प्रकार लोक में एक निष्क (मुद्रा) के द्वारा खारी (परिमाणविशेष) व्रीहि (धान) को खरीद कर फिर अन्य मुद्रा द्वारा धान खरीदने पर धान के परिमाण का आधिक्य हो जाता है, अथवा जिस प्रकार एक निष्क के द्वारा केवल साधारण वस्त्र प्राप्त होता है, दो निष्कों के द्वारा तो सारभूत सुन्दर वस्त्र प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार अन्य कर्मों से

मानस्याः स्वल्पाया वेदनमात्रेण तरणम्। कायिक्यास्तु महत्या अश्वमेधेन, इति नास्ति अन्यानर्थक्यम्।

योऽपि 'नान्तरिक्षे न दिवि' इत्यप्रसक्तप्रतिषेध उदाहृतस्तथा 'बबरः प्रावाहणिः' इत्यनित्यसंयोग उदाहृतस्तत्र उभयत्रोत्तरं सूत्रयति—

'अन्त्ययोर्यथोक्तम्' (जै० १।२।१८) इति।

अन्त्ययोरुदाहरणयोरुत्तरं पूर्वोक्तमेव द्रष्टव्यम्। अन्तरिक्षादौ चयननिन्दारूपोऽर्थवादो 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' (तै० सं० ५।२।७।१) इत्यस्य विधेः शेषः। अतोऽत्र 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्युक्तमेव उत्तरम्। अन्तरिक्षे चयनप्रसक्त्यभावात् तन्निंदा नित्यानुवादोऽस्तु। तेनापि विधिः स्तोतुं शक्यते, नित्यसिद्धार्थानुवादिना वायोः क्षेपिष्ठत्वेन पशुविधेः स्तुतत्वात्। 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यत्रापि बबरनामकः कश्चिदनित्यः पुरुषो मनुष्यो न विवक्षितः, किंतु बबरध्वनियुक्तः प्रकर्षेण वहनशीलो वायुर्व्यवहारदशायां नित्य एवार्थो विवक्षितः इत्येतदुत्तरं प्रथमपादस्य अन्तिमाधिकरणे प्रोक्तम्।

तस्मात् सम्भावितदोषाणां परिहृतत्वाद् अर्थवादानाम् अस्ति प्रामाण्यम्। तत्र संग्रहश्लोकाः—

भोग का आधिक्य अथवा भोग का सारत्व समझना चाहिये (भोग या अधिक समय तक किया जा सकेगा या भोग उच्चकोटि का होगा)। ब्रह्महत्या यदि मानसिक ही है (यदि मन से ही की गई है) तो वह स्वल्प (थोड़ी) है और अश्वमेध के ज्ञानमात्र से ही ऐसी ब्रह्महत्या से मुक्ति मिल जाती है। किन्तु यदि ब्रह्महत्या कायिक है अर्थात् यदि वास्तव में ब्राह्मण की हत्या की गई है तब तो वह बहुत बड़ी है और अश्वमेधयाग के अनुष्ठान से ही ऐसी ब्रह्महत्या से मुक्ति हो सकती है। इस प्रकार अन्य कर्मों का आनर्थक्य नहीं होता।

पूर्वपक्षी ने अर्थवाद में अप्राप्त के निषेध को दिखलाने के लिए अन्तरिक्ष में नहीं द्युलोक में नहीं, यह जो उदाहरण दिया था तथा अर्थवाद में अनित्यसंयोग को दिखलाने के लिए 'बबरः प्रावाहणिः' यह जो उदाहरण दिया था उन दोनों का उत्तर सूत्रित करते हैं—

'अन्त के दोनों पूर्वपक्षों का समाधान, जैसा पूर्व में कथन कर आए हैं, वैसा ही जानना चाहिए'—

'अन्तिम दो उदाहरणों का उत्तर पहले दे दिया गया है। अन्तरिक्ष आदि में अग्निचयन की निन्दा के रूप में जो अर्थवाद है वह 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' (सोने को रखकर उसके ऊपर चयन करना चाहिये) इस विधि-वाक्य का शेष

वायुर्वा इत्येवमादेरर्थवादस्य मानता ।
न विधेयेऽस्ति धर्मे किं किं वासौ तत्र विद्यते ॥
विध्यर्थवादशब्दानां मिथोऽपेक्षापरिक्षयात् ।
नास्त्येकवाक्यता धर्मे प्रामाण्यं सम्भवेत् कुतः ॥
विध्यर्थवादौ साकाङ्क्षौ प्राशस्त्यपुरुषार्थयोः ।
तेनैकवाक्यता तस्माद् वादानां धर्ममानता ॥
(जै० न्या० मा० १।२।१)

भाग (स्तुति करने वाला) है। "स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इसके द्वारा ऐसे अर्थवादों का उत्तर पहले ही दिया जा चुका है। अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्निचयन कभी नहीं हो सकता है इसलिये प्रकृत अर्थवाद-वाक्य में अन्तरिक्ष लोक तथा द्युलोक में अग्निचयन की जो निन्दा की गई है वह नित्य (अर्थात् स्वभावसिद्ध) का अनुवाद है। नित्य के अनुवादक भी इस अर्थवाद-वाक्य के द्वारा विधि की प्रशंसा तो वैसे ही हो सकती है जैसे 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इस पशुविधि की प्रशंसा 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इस अर्थवाद में वायु को क्षिप्रगामी देवता कह कर की गई है। यह अर्थवाद पशुविधि की प्रशंसा तो करता ही है यद्यपि इसमें कोई नई बात न कहकर वायु के नित्य गुण-क्षिप्रता का ही अनुवाद किया गया है। इस प्रकार नित्य (सिद्ध अर्थ) के अनुवाद द्वारा भी प्रशंसा तो हो ही जाती है। 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इस अर्थवाद-वाक्य में भी बबर नामक कोई अनित्य पुरुष विवक्षित नहीं है, किन्तु बबर-ध्वनि-युक्त तथा तेजी से बहने वाला वायु व्यवहार-दशा में नित्य ही अर्थ विवक्षित है। यह उत्तर (जैमिनि के द्वारा) प्रथम पाद के अन्तिम अधिकरण में दिया जा चुका है।

इसलिए संभावित दोषों का परिहार हो जाने से अर्थवादों का प्रामाण्य सिद्ध हो गया। इस प्रसङ्ग में ये संग्रह श्लोक हैं—

(प्रश्न) वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवादों का विधेय धर्म में प्रामाण्य नहीं है अथवा विधेय धर्म में इनका प्रामाण्य है ? (पूर्वपक्ष) विधि-वाक्य तथा अर्थवाद-वाक्य के शब्द एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करते हैं अतः विधिवाक्य और अर्थवाद-वाक्य में एकवाक्यता नहीं होती। इसलिए अर्थवाद-वाक्यों का धर्म में प्रामाण्य कैसे संभव हो सकता है ? अर्थात् प्रामाण्य नहीं हो सकता। (सिद्धान्तपक्ष) विधि और अर्थवाद साकांक्ष होते हैं। विधि-वाक्य को आकांक्षा होती है कि कोई उसकी स्तुति (प्रशंसा) करे और अर्थवाद को पुरुषार्थ की आकांक्षा होती है। अर्थवाद विधि की स्तुति करके उसकी आकांक्षा को पूरी कर देता है और अर्थवाद की पुरुषार्थ की आकांक्षा विधि के द्वारा पूरी

तदेवं वेदे विद्यमानानां त्रयाणां मन्त्रविध्यर्थवादभागानाम् अप्रामाण्ये कारणाभावात् बोधकानां तेषां प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वाङ्गीकाराच्च कृत्स्नस्यापि वेदस्य प्रामाण्यं सिद्धम् ।

ननु एवमपि वेदस्य पौरुषेयत्वेन विप्रलम्भकवाक्यवत् अप्रामाण्यं स्यात् । पौरुषेयत्वं च प्रथमपादे पूर्वपक्षत्वेन जैमिनिः सूत्रयामास—

'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या' (जै० १।१।२७) ।

एके वादिनो वेदान् प्रति सन्निकर्षं मन्यन्ते । कालिदासादिभिर्निर्मितानां रघुवंशादिग्रन्थानां समुच्चयार्थश्चकारः । ते ह्यत्र दृष्टान्ततया समुच्चीयन्ते । यथा रघुवंशादय इदानींतनास्तथा वेदा अपि । न तु वेदा अनादयः । अत एव वेदकर्तृत्वेन पुरुषा आख्यायन्ते । वैयासिकं भारतं वाल्मीकीयं रामायणमित्यत्र यथा भारतादिकर्तृत्वेन व्यासादय आख्यायन्ते तथा काठकं कौथुमं तैत्तिरीयमित्येवं तत्तद्वेदशाखाकर्तृत्वेन कठादीनामाख्यातत्वात् वेदाः पौरुषेयाः ।

हो जाती है । अर्थवाद भी निरर्थक नहीं रह जाता । उसका प्रयोजन विधि की प्रशंसा करना सिद्ध हो जाता है और इस प्रकार विधि के माध्यम से वह धर्म (याग) से संबद्ध हो जाता है । परस्पर साकांक्ष होने से विधि और अर्थवाद की एकवाक्यता सम्पन्न हो जाती है । इसलिए अर्थवादों का धर्म में प्रामाण्य स्थापित हो जाता है ।

इस प्रकार वेद में विद्यमान मन्त्र, विधि और अर्थवाद इन तीनों भागों के अप्रामाण्य में कारण न होने से तथा बोधक होने के कारण उनके स्वतः प्रामाण्य को स्वीकार करने से सम्पूर्ण वेद का प्रामाण्य सिद्ध हो गया ।

पूर्वपक्ष—वेद पौरुषेय है ।

मन्त्र, विधि और अर्थवाद का प्रामाण्य मान लेने पर भी वेद के पौरुषेय (पुरुष द्वारा निर्मित) होने के कारण विप्रलम्भक-वाक्य (पाखण्डी या ठग के वाक्य) की तरह वेद का अप्रामाण्य है । जैमिनि ने अपनी पूर्वमीमांसा के प्रथम पाद में वेद के पौरुषेयत्व को पूर्वपक्ष के रूप में इस प्रकार सूत्रित किया है—'क्योंकि वेद के कर्ता के रूप में पुरुषों के नामों का उल्लेख है, इसलिए वेद सन्निकर्ष अर्थात् आधुनिक हैं' ।

कुछ लोग वेदों के प्रति सन्निकर्ष मानते हैं अर्थात् वेदों को आधुनिक रचनायें मानते हैं । कालिदास आदि के द्वारा निर्मित रघुवंश आदि ग्रन्थों के समुच्चय के लिए सूत्र में 'च' शब्द का प्रयोग हुआ है । दृष्टान्त देने के लिए इन ग्रन्थों का समुच्चय यहाँ किया है । जिस प्रकार रघुवंश आदि आधुनिक

ननु नित्यानामेव सतां वेदानामुपाध्यायवत् सम्प्रदायप्रवर्त्तकत्वेन काठकादिसमाख्या स्यादित्याशङ्क्य युक्त्यन्तरं सूत्रयति—

'अनित्यदर्शनाच्च' (जै० १।१।२८) इति।

अनित्या जननमरणवन्तो बबरादयो वेदे श्रूयन्ते—'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) 'कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत' (तै० सं० ७।२।२।१) इति। तथा सति बबरादिभ्यः पूर्वमभावाद् अनित्या वेदाः। विमतं वेदवाक्यं पौरुषेयं वाक्यत्वात्, कालिदासादिवाक्यवद् इत्याद्यनुमानसमुच्चयार्थश्चकारः।

सिद्धान्तं सूत्रयति—

'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' (जै० १।१।२९) इति।

तुशब्दो वेदानामनित्यत्वं वारयति। शब्दस्य वेदरूपस्य कठादिपुरुषेभ्यः पूर्वत्वम् अनादित्वं प्राचीनैरेव सूत्रैरुक्तम्। 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य

रचनायें हैं उसी प्रकार वेद भी आधुनिक रचनायें हैं। वेद अनादि नहीं हैं। इसीलिए वेदों के कर्ता के रूप में पुरुषों का उल्लेख हुआ है। 'वैयासिकं भारतम्', 'वाल्मीकीयं रामायणम्' इन उदाहरणों में जिस प्रकार भारत आदि के कर्ता के रूप में व्यास, (वाल्मीकि) आदि का उल्लेख हुआ है, उसी प्रकार काठक, कौथुम, तैत्तिरीय इत्यादि शब्दों से ज्ञात होता है कि उन-उन वेदों की शाखाओं के कर्ता के रूप में कठ आदि (कुथुम, तित्तिरि) का उल्लेख हुआ है। इसलिए वेद पौरुषेय हैं।

वेद तो नित्य ही हैं किन्तु उपाध्याय की तरह वेदों के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तक के रूप में कठ आदि के नामों का उल्लेख हुआ है। ऐसी आशङ्का प्रस्तुत करके दूसरी युक्ति देते हैं—

'अनित्य पदार्थों का दर्शन होने से'।

जन्म मरण वाले बबर आदि अनित्य पदार्थों का वेद में उल्लेख हुआ है। जैसे 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' 'कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत'। ऐसी स्थिति में बबर आदि से पहले वेदों का अभाव होने से वेद अनित्य सिद्ध होते हैं। 'विवादास्पद वेदवाक्य पौरुषेय है, वाक्य होने से, कालिदास आदि के वाक्य की तरह' यह अनुमान भी वेद के पौरुपेयत्व के लिए दिया जाता है। इस अनुमान के समुच्चय के लिए ही सूत्र में 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है।

सिद्धान्तपक्ष—वेद अपौरुषेय हैं।

'शब्दों की नित्यता एवं प्राथमिकता पहले कही जा चुकी है'।

तुशब्द वेदों की अनित्यता का निषेध करता है। पूर्ववर्ती सूत्रों में ही यह बात कही जा चुकी है कि वेद कठादि पुरुषों से पूर्ववर्ती तथा अनादि हैं। 'औत्पत्तिकस्तु

अर्थेन सम्बन्धः' (जै० १।१।५) इत्यस्मिन् सूत्रे औत्पत्तिकशब्देन सर्वेषां शब्दानां वेदानां तदर्थानां तदुभयसम्बन्धानां च नित्यत्वं प्रतिज्ञाय उत्तराभ्यां शब्दाधिकरणवाक्याधिकरणाभ्यामुपपादितत्वात्। का तर्हि काठकाद्याख्याया गतिरित्याशङ्क्य संप्रदायप्रवर्तनात् सेयमुपपद्यते इत्युत्तरं सूत्रयति—

'आख्या प्रवचनात्' (जै० १।१।३०) इति।

अस्तु इयमाख्याया गतिः। ततः परं बबराद्यनित्यदर्शनं यदुक्तं तस्य किमुत्तरमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० १।१।३१) इति।

यत् परं बबरादिकं तच्छब्दसामान्यमेव। न तु मनुष्यो बबरनामकोऽत्र विवक्षितः बबरध्वनियुक्तस्य प्रवहणस्वभावस्य वायोरत्र वक्तुं शक्यत्वात्।

ननु वेदे क्वचिदेवं श्रूयते 'वनस्पतयः सत्रमासत', 'सर्पाः सत्रमासत' इति। तत्र वनस्पतीनामचेतनत्वात्, सर्पाणां चेतनत्वेऽपि विद्यारहितत्वात् न तदनुष्ठानं संभवति। अतो 'जरद्गवो गायति मद्रकाणि' इत्याद्युन्मत्तबालवाक्यसदृशत्वात् केनचित् कृतो वेद इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः' इस सूत्र में महर्षि जैमिनि ने औत्पत्तिक शब्द के द्वारा शब्दरूप वेदों, उनके अर्थों तथा उन दोनों के सम्बन्धों के नित्यत्व की प्रतिज्ञा करके उत्तरवर्ती शब्दाधिकरण और वाक्याधिकरण के द्वारा इसी नित्यता का उपपादन किया है। तब काठक आदि नामों का क्या समाधान (गति) होगा ? यह शङ्का प्रस्तुत करके इसका उत्तर देते हैं कि सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने के कारण कठादि के नाम आए हैं और इस प्रकार समाख्या उपपन्न होती है। इसी बात को दृष्टि में रखकर यह सूत्र बनाया है 'आख्या प्रवचनात्' अर्थात् कठ आदि नामों के प्रयुक्त होने का कारण यह है कि इन लोगों ने वेदों की उन-उन शाखाओं का प्रवचन किया था।

नामों का यह समाधान (गति) हम मान लेते हैं किन्तु बबर आदि अनित्य पदार्थों का जो वेद में उल्लेख मिलता है उसका क्या उत्तर होगा ? यह आशङ्का प्रस्तुत करके उत्तर देते हैं—

'दूसरे सूत्र में उक्त बबर आदि अनित्य पदार्थों का जो उल्लेख हुआ है उसे शब्दसामान्य मात्र समझना चाहिये'।

दूसरे सूत्र में उक्त बबर आदि अनित्य पदार्थों का जो उल्लेख हुआ है वह शब्द की समानता मात्र है। यहाँ पर बबर नामक कोई पुरुष विवक्षित नहीं है।

'कृते चाविनियोगः स्यात् कर्मणः समत्वात्' (जै० १।१।३२) इति। यदि ज्योतिष्टोमादिवाक्यं केनचित् पुरुषेण क्रियेत तदानीं कृते तस्मिन् वाक्ये स्वर्गसाधनत्वे ज्योतिष्टोमस्य विनियोगो न स्यात्; साध्यसाधनभावस्य पुरुषेण ज्ञातुमशक्यत्वात्। श्रूयते तु विनियोगः 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति। न चैतदुन्मत्तवाक्यसदृशं, लौकिकविधिवाक्यवद् भाव्यकरणेतिकर्त्तव्यतारूपैस्त्रिभिरंशैरुपेताया भावनाया अवगमात्। लोके हि ब्राह्मणान् भोजयेदिति विधौ, किं, केन, कथमित्याकाङ्क्षायां, तृप्तिमुद्दिश्य, ओदनेन द्रव्येण, शाकसूपादिपरिवेषणप्रकारेण इति यथा उच्यते, तथा ज्योतिष्टोमविधावपि, स्वर्गमुद्दिश्य, सोमेन द्रव्येण, दीक्षणीयाद्यङ्गोपकारप्रकारेण इत्युक्ते कथमुन्मत्तवाक्यसदृशं भवेत्। वनस्पत्यादिसत्रवाक्यमपि न तत्सदृशं, तस्य सत्रकर्मणो ज्योतिष्टोमादिना

हम कह सकते हैं कि यहाँ पर बबर ध्वनि वाला तथा तीव्र गति से बहने वाला वायु विवक्षित है।

वेद में कहीं पर उल्लेख हुआ है कि वनस्पतियों ने सत्र-यज्ञ किया; सर्पों ने सत्र-यज्ञ किया। वनस्पतियों के अचेतन होने से तथा सर्पों के चेतन होने पर भी विचारहित होने से इन दोनों के द्वारा सत्र-यज्ञ का अनुष्ठान करना संभव नहीं है। इसलिये 'बूढ़ा बैल कम्बल और पादुकाओं के सहित द्वार में स्थित हुआ कल्याणकर (मद्रक) गान को गाता है। पुत्रकामना वाली ब्राह्मणी उससे प्रश्न करती है कि हे राजन्! लवण की खान में लहसुन का क्या अर्थ (कीमत, प्रयोजन) है,[1] इत्यादि पागल और बालक के वाक्य के सदृश होने के कारण वेद को भी किसी ऐसे ही ने बना दिया। ऐसी आशङ्का उपस्थित करके इसका उत्तर देते हैं—

'पुरुषनिर्मित होने पर ज्योतिष्टोम आदि का विनियोग न होता तथा अन्य कर्मों के समान होने से सत्र-प्रतिपादक वाक्य भी उन्मत्त के वाक्य के सदृश नहीं है'।

यदि ज्योतिष्टोम आदि वाक्य किसी पुरुष के द्वारा निर्मित हुए होते तब तो इस पौरुषेय वाक्य में स्वर्ग के साधन के रूप में ज्योतिष्टोम याग का विनियोग न होता क्योंकि स्वर्ग और ज्योतिष्टोम का साध्यसाधनभाव पुरुष नहीं जान सकता। किन्तु स्वर्ग के साधन के रूप में ज्योतिष्टोम का विनियोग वेद में सुना जाता है, जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामना वाला व्यक्ति ज्योतिष्टोम

---

१. जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्थः॥

समत्वात्। 'यत्परो हि शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायविद आहुः। ज्योतिष्टोमादिवाक्यस्य विधायकत्वादनुष्ठाने तात्पर्यम्। वनस्पत्यादिसत्रवाक्यस्य अर्थवादत्वात् प्रशंसायां तात्पर्यम्। सा चाविद्यमानेनापि कर्तुं शक्यते। अचेतना अविद्वांसोऽपि सत्रमनुतिष्ठवन्तः, किं पुनश्चेतना विद्वांसो ब्राह्मणा इति सत्रस्तुतिः। चकारः पूर्वपक्षोक्तस्य वाक्यत्वाद्धेतोः कर्त्रनुपलम्भेन पराहतिं समुच्चिनोति। तस्मात् नास्ति वेदस्य पौरुषेयत्वम्।

अत्रैतौ संग्रहश्लोकौ—

पौरुषेयं न वा वेदवाक्यं स्यात्पौरुषेयता।
काठकादिसमाख्यानाद् वाक्यत्वाच्चान्यवाक्यवत्॥
समाख्यानं प्रवचनाद् वाक्यत्वं तु पराहतम्।
तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततोऽपौरुषेयता॥

(जै० न्या० मा० १।१।८)

करे—ज्योतिष्टोम याग के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करे)। यह वाक्य पागल के वाक्य के सदृश नहीं है क्योंकि लौकिक विधिवाक्य की तरह इस वाक्य में भी भाव्य, करण और इतिकर्त्तव्यता—इन तीन अंशों से उपेत भावना ज्ञात होती है। लोक में 'ब्राह्मणान भोजयेत्' (ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय) इस विधिवाक्य में क्यों भोजन करावें (किम्), किससे भोजन करावें (केन) और कैसे भोजन करावें (कथम्) इन तीन आकांक्षाओं के होने पर तृप्ति के उद्देश्य से भोजन करावें, ओदन द्रव्य से भोजन करावें और शाक-सूप आदि परोसकर भोजन करावें—ये उत्तर जिस प्रकार दिए जाते हैं, उसी प्रकार ज्योतिष्टोम यज्ञ की विधि में भी स्वर्ग (साध्य, भाव्य) को उद्देश्य करके ज्योतिष्टोम करे, सोम द्रव्य (कारण, साधन) के द्वारा ज्योतिष्टोम करे और दीक्षणीय आदि अङ्गों के द्वारा उपकृत करके (इतिकर्त्तव्यता) ज्योतिष्टोम करे—ये तीनों अंश मिलते हैं। तब यह वाक्य पागल के वाक्य के सदृश कैसे हो सकता है ? वनस्पति आदि के द्वारा सत्र करने का उल्लेख जिन वाक्यों में मिलता है वे वाक्य भी पागल के वाक्य के सदृश नहीं हैं क्योंकि सत्रकर्म भी ज्योतिष्टोम आदि के समान हैं और न्यायवेत्ताओं का कहना है कि शब्द का अर्थ वही होता है जिस तात्पर्य से शब्द का प्रयोग होता है। ज्योतिष्टोम आदि वाक्यों के विधायक (विधान करने वाले) होने के कारण उनका तात्पर्य अनुष्ठान में है। वनस्पत्यादि सत्र-वाक्यों के अर्थवाद होने के कारण उनका तात्पर्य प्रशंसा करने में है और प्रशंसा तो अविद्यमान वस्तु के द्वारा भी की जा सकती है। जब अचेतन, वनस्पतियों तथा ज्ञानरहित सर्पों ने भी सत्र का

ननु भगवता बादरायणेन वेदस्य ब्रह्मकार्यत्वं सूत्रितम् 'शास्त्रयोनित्वाद्' (वेदान्तसूत्र १।१।३) इति। ऋग्वेदादिशास्त्रकारणत्वात् ब्रह्म सर्वज्ञमिति सूत्रार्थः। बाढम्। नैतावता पौरुषेयत्वं भवति, मनुष्यनिर्मितत्वाभावात्। ईदृशमपौरुषेयत्वमभिप्रेत्य व्यवहारदशायामाकाशादिवत् नित्यत्वं बादरायणेनैव देवताधिकरणे सूत्रितम्—'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२६) इति। श्रुतिस्मृती चात्र भवतः। 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० ८।७५।६) इति श्रुतिः। 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' (म० भ० शां० २३२।२४) इति स्मृतिः। तस्मात् कर्तृदोषशङ्काया अनुदयात् मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य निर्विघ्नं प्रामाण्यं सिद्धम्।

ननु मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं वेदस्य न युक्तं, तयोः स्वरूपस्य निर्णेतुमशक्यत्वात्। मैवम्। द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे सप्तमाष्टमयोरधिकरणयोर्निर्णीतत्वात्। सप्तमाधिकरणमारचयति—

अनुष्ठान किया तब चेतन विद्वान् ब्राह्मणों का तो कहना ही क्या ? इस प्रकार सत्र की प्रशंसा हो जाती है। पूर्वपक्षी ने वेद के पौरुषेयत्व को सिद्ध करने के लिए जो वाक्यरूप हेतु दिया था उसका खण्डन सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द इस आधार पर कर देता है कि वेद वाक्यों का कर्ता उपलब्ध नहीं होता जब कि रघुवंश आदि के वाक्यों के कर्ता रूप में कालिदास आदि उपलब्ध होते हैं। इसलिए स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गया कि वेद पौरुषेय नहीं है।

इस विषय में दो संग्रहश्लोक हैं—

(प्रश्न) वेद-वाक्य पौरुषेय है अथवा पौरुषेय नहीं हैं। (पूर्वपक्ष) वेद वाक्य पौरुषेय है क्योंकि वेदों के साथ कठ आदि के नाम जुड़े हुए हैं (जिस प्रकार रघुवंश आदि के साथ कालिदास आदि के नाम जुड़े हुए हैं)। तथा वाक्य होने के कारण भी वेद-वाक्य पौरुषेय है, अन्य वाक्यों की तरह अर्थात् जिस प्रकार रघुवंश आदि के वाक्य पौरुषेय हैं उसी प्रकार वेद के वाक्य भी पौरुषेय हैं, दोनों ही तो वाक्य रूप हैं। (सिद्धान्त) कठ आदि के नाम वेदों के साथ इसलिए जुड़ गए हैं क्योंकि इन लोगों ने वेदों का प्रवचन किया और वाक्य रूप हेतु का खण्डन तो इस आधार पर हो जाता है कि वेद के वाक्यों का कोई कर्ता उपलब्ध नहीं होता जब कि रघुवंश आदि ग्रन्थों के कर्ता कालिदास आदि उपलब्ध होते हैं।

यहाँ पर शङ्का होती है कि भगवान् बादरायण ने अपने 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र में बतलाया है कि वेद ब्रह्म का कार्य है। इस उपर्युक्त सूत्र का अर्थ है कि ऋग्वेदादि शास्त्रों का कारण होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है। (समाधान) हाँ,

अहे बुध्निय मन्त्रं म इति मन्त्रस्य लक्षणम्।
नास्त्यस्ति वाऽस्य नास्त्येतदव्याप्त्यादेरवारणात् ॥
याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम्।
तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते ॥
(जै० न्या० मा० २।१।७)

आधाने इदमाम्नायते—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' (तै० ब्रा० १।२।१।२६) इति। तत्र मन्त्रस्य लक्षणं नास्ति अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्वारयितुमशक्यत्वात्। विहितार्थाभिधायको मन्त्रः इत्युक्ते 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) इत्यस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वादव्याप्तिः। मननहेतुर्मन्त्रः इत्युक्ते ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिः। एवम् असिपदान्तो मन्त्रः, उत्तमपुरुषान्तो मन्त्रः, इत्यादिलक्षणानां परस्परमव्याप्तिरिति चेत्, मैवम्। याज्ञिकसमाख्यानस्य निर्दोषलक्षणत्वात्। तच्च समाख्यानमनुष्ठानस्मारकादीनां मन्त्रत्वं गमयति। 'उरु प्रथस्व' (तै० सं० १।१।८।१) इत्यादयोऽनुष्ठानस्मारकाः। 'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादयः स्तुतिरूपाः। 'इषे त्वा' (तै० सं० १।१।१।१) इत्यादयस्त्वान्ताः। 'अग्न आ याहि वीतये' (तै० ब्रा० १।५।२।१) इत्यादय आमन्त्रणोपेताः। 'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२) इत्यादयः प्रैषरूपाः। 'अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्' (ऋ० सं० १०।१२९।५) इत्यादयो विचाररूपाः। 'अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन' (तै० सं० ७।४।१९।१) इत्यादयः परिवेदनरूपाः। 'पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः'

मानते हैं कि वेद ब्रह्म का कार्य है किन्तु इतने से वेद का पौरुषेयत्व तो सिद्ध नहीं होता क्योंकि मनुष्य ने तो वेद का निर्माण नहीं किया है। इस प्रकार के अपौरुषेयत्व को दृष्टि में रखकर स्वयं बादरायण ने ही देवताधिकरण में व्यवहार-दशा में आकाश आदि की तरह वेद के नित्यत्व को सिद्ध किया है। उनका एतद्विषयक सूत्र यह है 'अतएव च नित्यत्वम्'। वेद के नित्यत्व का समर्थन करने वाली श्रुति और स्मृति ये हैं—(श्रुति) 'वाचा विरूपनित्यया' (हे विरूप नामक ऋषि, नित्य अर्थात् उत्पत्तिरहित मन्त्र रूप वाणी के द्वारा स्तुति करो), (स्मृति) 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' (स्वयंभू के द्वारा आदि-रहित और अन्तरहित नित्य वाणी की सृष्टि हुई है)। इसलिए कर्ता के दोष की शङ्का के उदय न होने से मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद का प्रामाण्य निर्विघ्न सिद्ध हो जाता है।

यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि वेद का लक्षण करते समय वेद को

(तै० सं० ७।४।१८।२) इत्यादयः प्रश्नरूपाः। 'वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः' (तै० सं० ७।४।१८।२) इत्यादय उत्तररूपाः। एवमन्यदप्युदाहार्यम्। ईदृशेष्वत्यन्तविजातीयेषु समाख्यानमन्तरेण नान्यः कश्चिदनुगतो धर्मोऽस्ति यस्य लक्षणत्वमुच्येत। लक्षणस्य चोपयोगः पूर्वाचार्यैर्दर्शितः—

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥

तस्मादभियुक्तानां मन्त्रोऽयमिति समाख्यानं लक्षणम्।

जो मन्त्र ब्राह्मणात्मक कहा गया है वह युक्त नहीं, क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मण के स्वरूप का निर्णय नहीं किया जा सकता है। इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में सप्तम और अष्टम अधिकरणों में इन दोनों के स्वरूप का निर्णय किया गया है। सप्तम अधिकरण का संग्रह करते हैं—

(प्रश्न) 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' इस उद्धरण में जो मन्त्र शब्द आया है उस मन्त्र का क्या कोई लक्षण नहीं है अथवा लक्षण है ? (पूर्वपक्ष) मंत्र का कोई भी लक्षण नहीं है क्योंकि ऐसा कोई भी लक्षण नहीं हो सकता जिसमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों का निवारण हो सके। (सिद्धान्त) याज्ञिकों का समाख्यान (नाम देना, नाम-निर्देशन करना) दोषवर्जित लक्षण है अर्थात् याज्ञिक जिन वाक्यों को मन्त्र के नाम से अभिहित करते हैं, वही वाक्य मन्त्र हैं। वे याज्ञिक लोग अनुष्ठान के स्मारक आदि वाक्यों के लिए मन्त्र शब्द का प्रयोग करते हैं।

आधान के प्रकरण में यह उद्धरण मिलता है 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय'। इस उद्धरण में जो मन्त्र शब्द आया है उस मन्त्र का कोई लक्षण नहीं है क्योंकि ऐसा कोई भी लक्षण नहीं हो सकता जिसमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों का निवारण हो सके। यदि कोई कहे कि जो विहित अर्थ का अभिधान करता है वह मन्त्र होता है तब तो 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' इस विधिरूप मन्त्र में इस लक्षण की व्याप्ति नहीं होगी और इस प्रकार यह लक्षण अव्याप्ति दोष से ग्रसित है। यदि कोई कहे कि मनन का हेतु मन्त्र होता है तब तो मननहेतुरूप यह लक्षण ब्राह्मण में भी व्याप्त हो जायगा क्योंकि ब्राह्मण भी मननहेतुरूप है। इसलिए यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित है। यदि कोई मन्त्र का यह लक्षण करे कि मन्त्र वह होता है जिसका अन्त असि पद से होता है अथवा मन्त्र वह होता है जिसका अन्त उत्तम पुरुष से होता है तब तो मन्त्र का लक्षण परस्पर अव्याप्त होता है। इस प्रकार मन्त्र का कोई भी लक्षण नहीं हो

अष्टमाधिकरणमारचयति—

नास्त्येतद् ब्राह्मणेत्यत्र लक्षणं विद्यतेऽथवा।
नास्तीयन्तो वेदभागा इति क्लृप्तेरभावतः॥
मन्त्रश्च ब्राह्मणं चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः।
अन्यद् ब्राह्मणमित्येतद् भवेद् ब्राह्मणलक्षणम्॥
(जै० न्या० मा० २।१।८)

सकता। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि ऐसी बात नहीं है। याज्ञिकों का समाख्यान (नाम देना, नाम निर्देशन करना) निर्दोष लक्षण है अर्थात् याज्ञिक जिन वाक्यों को मन्त्र के नाम से अभिहित करते हैं, वहीं वाक्य मन्त्र हैं। और याज्ञिकों का वह समाख्यान अनुष्ठान के स्मारक आदि वाक्यों का मन्त्र होना बतलाता है। उदाहरण के लिए 'उरु प्रथस्व' इत्यादि मन्त्र अनुष्ठान के स्मारक हैं। 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि मन्त्र स्तुतिरूप हैं। 'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्र त्वा में अन्त होने वाले हैं। 'अग्न आयाहि वीतये' इत्यादि मन्त्रों में आमन्त्रण है। 'अग्नीदग्नीन् विहर' इत्यादि मन्त्र प्रैषरूप (आज्ञा देने वाले) हैं। 'अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासीं३त्' इत्यादि मन्त्र विचाररूप हैं। 'अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मा नयति कश्चन' इत्यादि मन्त्र परिदेवनरूप (विलाप) हैं। 'पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः' इत्यादि मन्त्र प्रश्नरूप है। 'वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः' इत्यादि मन्त्र उत्तररूप हैं। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। इस प्रकार के अत्यन्त विजातीय मन्त्रों में याज्ञिकों के समाख्यान के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा अनुगत (सर्वसाधारण) धर्म नहीं जिसे मन्त्र का लक्षण कहा जाय। और लक्षण का उपयोग प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार दिखलाया हैं 'ऋषि लोग भी पृथक्-पृथक् रूप से अर्थात् एक-एक करके पदार्थों (वस्तुओं) के अन्त तक नहीं पहुँच सकते हैं किन्तु विद्वान् लोग लक्षण के द्वारा सिद्ध पदार्थों के अन्त तक पहुँच जाते हैं' (अर्थात् लक्षण की सहायता से पदार्थों का ज्ञान सरलता से प्राप्त कर सकते हैं)। इसलिए याज्ञिक विद्वानों का 'यह वाक्य मन्त्र है' यह समाख्यान (नाम निर्देशन) मन्त्र का लक्षण है अर्थात् याज्ञिक लोग जिसे मन्त्र कहें वही मन्त्र है।

अष्टम अधिकरण का संग्रह करते हैं—(प्रश्न) 'एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' इस उद्धरण में आया हुआ जो ब्राह्मण शब्द है उस ब्राह्मण का क्या कोई लक्षण नहीं है अथवा लक्षण है? (पूर्वपक्ष) 'वेद के इतने भाग हैं' यह निश्चय न होने के कारण ब्राह्मण का कोई लक्षण नहीं है। (सिद्धान्त पक्ष) मन्त्र और ब्राह्मण वेद के ये दो भाग हैं। मन्त्र का लक्षण किया जा चुका है। मन्त्र से अतिरिक्त जो है वह ब्राह्मण है। यह ब्राह्मण का लक्षण है।

चातुर्मास्येष्विदमाम्नायते—'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' (तै० ब्रा० १।७।१।१) इति। तत्र ब्राह्मणस्य लक्षणं नास्ति। कुतः? वेदभागानामियत्तानवधारणेन ब्राह्मणभागेष्वन्यभागेषु च लक्षणस्य अव्याप्त्यतिव्याप्त्योः शोधयितुमशक्यत्वात्। पूर्वोक्तो मन्त्रभाग एकः। भागान्तराणि च कानिचित् पूर्वैरुदाहर्तुं संगृहीतानि—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना॥ इति।

'तेन ह्यन्नं क्रियते' (श० ब्रा० २।५।२।२३) इति हेतुः। 'तद्दध्नो दधित्वम्' (तै० सं० २।५।३।४) इति निर्वचनम्। 'अमेध्या वै माषाः' (तै० सं० ५।१।८।१) इति निन्दा। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (तै० सं० २।१।१।१) इति प्रशंसा। 'तद्व्यचिकित्सज्जुहवानी३मा हौषा३म्' (तै० सं० ६।५।६।१) इति संशयः। 'यजमानेन संमितौदुम्बरी भवति' (तै० सं० ६।२।१०।३) इति विधिः। 'माषानेव मह्यं पचन्ति' इति परकृतिः। 'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः' (तै० सं० १।५।७।५) इति पुराकल्पः। 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणान् चतुष्कपालान्निर्वपेत्' (तै० सं० २।३।१२।१) इति विशेषावधारणकल्पना। एवमन्यदप्युदाहार्यम्।

चातुर्मास्य प्रकरण में यह उद्धरण मिलता है 'एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि'। इस उद्धरण में आए हुए ब्राह्मण का लक्षण नहीं है। क्यों? वेद के भागों की इयत्ता का अवधारण (निश्चय) न होने से ब्राह्मण के किसी भी प्रस्तावित लक्षण की ब्राह्मण-भागों में और अन्य भागों में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति को नहीं रोका जा सकता है। वेद का एक भाग मन्त्र पहले कहा गया है। पूर्वाचार्यों ने कतिपय अन्य भागों को उदाहरणार्थ ऐसे संगृहीत किया है—हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परक्रिया, पुराकल्प, व्यवधारण-कल्पना। 'तेन ह्यन्नं क्रियते' (क्योंकि उससे अन्न बनाया जाता है) यह हेतु (कारण) का कथन है। 'तद्दध्नो दधित्वम्' (वह दधि का दधिपन है) यहाँ दधि शब्द का निर्वचन किया गया है। 'अमेध्या वै माषाः' (उड़द यज्ञ के अयोग्य हैं) इसमें उड़द की निन्दा की गई है। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (वायु शीघ्रगामी देवता है) इसमें वायु की प्रशंसा की गई है। 'तद्व्यचिकित्सज्जुहवानी३मा हौषा३म्' (हवन करूँ अथवा न करूँ) इसमें संशय प्रकट किया गया है। 'यजमानेन संमितौदुम्बरी भवति' (गूलर यजमान के बराबर होवे) इसमें विधान है। 'माषानेव मह्यं पचन्ति' (मेरे लिए उड़द ही पकाते हैं) इसमें परकृति अर्थात् दूसरे के कार्य का उल्लेख है। 'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः' (प्राचीन

न च हेत्वादीनामन्यतमं ब्राह्मणमितिलक्षणं, मन्त्रेष्वपि हेत्वादिसद्भावात्। 'इन्दवो वामुशन्ति हि (ऋ० सं० १।२।४) इति हेतुः। उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते' (तै० सं० ५।६।१।३; अथर्व० ३।१३।४) इति निर्वचनम्। 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः' (ऋ० सं० १०।११७।६) इति निन्दा। 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्' (ऋ० सं० ८।४४।१६) इति प्रशंसा। 'अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्' (ऋ० सं० १०।१२९।५) इति संशयः। 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) इति विधिः। 'सहस्रमयुता ददत्' (ऋ० सं० ८।२१।१८) इति परकृतिः। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (ऋ० सं० १।१६४।५०) इति पुराकल्पः। इतिकरणबहुलं ब्राह्मणमिति चेत्, न, 'इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत्' (तै० ब्रा० ३।९।१४।३) इत्यस्मिन् ब्राह्मणेन गातव्ये मन्त्रेऽतिव्याप्तेः। 'इत्याह' इत्यनेन वाक्येनोपनिबद्धं ब्राह्मणमिति चेत्, न, 'राजा चित्रं भगं भक्षीत्याह' (ऋ० सं० ७।४१।२), 'यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह' (ऋ० सं० ७।१०४।१६) इत्यनयोर्मन्त्रयोरतिव्याप्तेः। आख्यायिकारूपं ब्राह्मणमिति चेत्, न, यमयमीसंवादसूक्तादौ (ऋ० सं० १०।१०) अतिव्याप्तेः।

काल में ब्राह्मण डर गए) इसमें पुराकल्प अर्थात् पुराना आख्यान है। 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणान् चतुष्कपालान्निर्वपेत्' (जितने घोड़ों का प्रतिग्रह करे उतने ही वरुणदेवताक चतुष्कपालों से याग करे) इसमें व्यवधारणकल्पना अर्थात् विशेष निश्चय की कल्पना है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं।

पूर्वोक्त हेतु आदि में अन्यतम (कोई एक) ब्राह्मण है, यह लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि मन्त्रों में भी हेतु आदि विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए— 'इन्दवो वामुशन्ति हि' (क्योंकि सोम तुम्हारी कामना करते हैं) यह हेतु का कथन है। 'उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते' (भूमि को ऊपर लाए इसीलिए वे उदक कहलाते हैं) यहाँ उदक शब्द का निर्वचन किया गया है। 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः' (स्वार्थी लोग व्यर्थ में अन्न प्राप्त करते हैं) इसमें निन्दा की गई है। 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्' (अग्नि द्युलोक का सिर है) इसमें प्रशंसा की गई है। 'अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्' (क्या वह नीचे था अथवा क्या वह ऊपर था ?) इसमें संशय प्रकट किया गया है। 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वसन्त के लिए कपिञ्जलों का आलम्भन करे) इसमें विधान किया गया है। 'सहस्रमयुता ददत्' (हजार दस हजार दिए) इसमें परकृति है। 'यज्ञेन

तस्मात् नास्ति ब्राह्मणस्य लक्षणमिति प्राप्ते ब्रूमः। मन्त्रब्राह्मणरूपौ द्वावेव वेदभागौ इत्यङ्गीकारात् मन्त्रलक्षणस्य पूर्वमभिहितत्वादवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणमित्येतल्लक्षणं भविष्यति। तदेतल्लक्षणद्वयं जैमिनिः सूत्रयामास—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या', 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० सू० २।१।३२-३३) इति।

तस्मिन् वेदे केषुचिदभिधायकेषु वाक्येषु मन्त्र इति समाख्या सम्प्रदायविद्भिर्व्यवह्रियते—'मन्त्रानधीमहे इति'। मन्त्रव्यतिरिक्तभागे तु ब्राह्मणशब्दस्तैर्व्यवहृत इत्यर्थः।

यज्ञमयजन्त देवाः' (यज्ञ से देवताओं ने यज्ञपुरुष का याग किया) इसमें पुराकल्प है। यदि कोई यह लक्षण करे कि जिसमें इतिकरण की बहुलता हो वह ब्राह्मण है तो भी युक्त नहीं है क्योंकि 'इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत्' ब्राह्मण के गाने योग्य इस मन्त्र में इस ब्राह्मण-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। यदि कोई कहे कि 'इत्याह' इस वाक्य से उपनिबद्ध ब्राह्मण होता है, तो भी युक्त नहीं है क्योंकि 'राजा चित्रं भर्गं भक्षीत्याह' तथा 'यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह' इन दोनों मन्त्रों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। यदि कोई कहे कि आख्यायिकारूप ब्राह्मण होता है तो भी युक्त नहीं क्योंकि यमयमीसंवाद आदि में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है।

इसलिए ब्राह्मण का लक्षण नहीं हो सकता। पूर्वपक्षी के इस मत का सिद्धान्ती अब परिहार करते हैं—यह स्वीकार किया जा चुका है कि वेद के दो ही भाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण। मन्त्र का लक्षण पहले ही कह दिया गया है, इसलिए अवशिष्ट वेदभाग ब्राह्मण हैं। यह ब्राह्मण का लक्षण होगा। इन दो लक्षणों को जैमिनि ने सूत्रित किया है—

'तत् अर्थात् अभिधान को प्रगट करने वाले वाक्यों के लिए मन्त्र नाम का प्रयोग करते है। 'वेद के शेष भाग में ब्राह्मण का प्रयोग होगा'।

वेद के कतिपय अभिधायक वाक्यों में सम्प्रदायवेत्ता लोग 'मन्त्र' नाम का प्रयोग करते हैं जैसे 'मन्त्रानधीमहे' (हम मन्त्र पढ़ते हैं)। मन्त्र से अतिरिक्त वेदभाग में वे लोग ब्राह्मण शब्द का व्यवहार करते हैं।

यहाँ पर शङ्का होती है कि ब्रह्मयज्ञ के प्रकरण में मन्त्र और ब्राह्मण भागों के अतिरिक्त इतिहास आदि भागों का भी उल्लेख किया गया है। जैसे 'यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः' तब यह कैसे कहा गया कि वेद के दो ही भाग होते हैं। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है

ननु ब्रह्मयज्ञप्रकरणे मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्ता इतिहासादयो भागा आम्नायन्ते—'यद् ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः' (तै० आ० २।६) इति। मैवम्। विप्रपरिव्राजकन्यायेन ब्राह्मणावान्तरभेदानामेवेतिहासादीनां पृथगभिधानात्। 'देवासुराः संयत्ता आसन्' (तै० सं० ५।३।१।१।१) इत्यादय इतिहासाः। 'इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत्' (तै० ब्रा० २।२।६।१) इत्यादिकं जगतः प्रागवस्थामुपक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्। कल्पस्तु आरुणकेतुकचयनप्रकरणे समाम्नायते—'इति मन्त्राः। कल्पोऽत ऊर्ध्वम्। यदि बलिं हरेत्' (तै० आ० १।३१।२) इति। अग्निचयने 'यमगाथाभिः परिगायति' (तै० सं० ५।१।८।२) इति विहिता मन्त्रविशेषा गाथाः। मनुष्यवृत्तान्तप्रतिपादका ऋचो नाराशंस्यः। तस्मात् मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्तभागाभावात् मन्त्रब्राह्मणस्वरूपस्य लक्षितत्वात् तदुभयात्मकत्वं वेदस्य सुस्थितम्।

मन्त्रावान्तरविशेषश्च तस्मिन्नेव पादे इत्थं विचारितः।
नर्क् सामयजुषां लक्ष्म सांकर्यादिति शङ्किते।
पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसंकरः॥ (जै० न्या० २।१।१०)

कि ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार ब्राह्मण होते हुए भी परिव्राजकों का पृथक् उल्लेख किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ पर ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय से ब्राह्मण के अवान्तर भेद होते हुए भी इतिहास आदि का पृथक् उल्लेख किया गया है। 'देवासुराः संयत्ता आसन' (देव और असुर युद्ध के लिए उद्यत थे) इत्यादि इतिहास है। 'इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत' (प्रारम्भ में यह कुछ नहीं था) इत्यादि वाक्यसमूह पुराण है जिसमें जगत् की प्रागवस्था से लेकर सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। कल्प का उल्लेख तो आरुणकेतुकचयन के प्रकरण में इस प्रकार किया गया है 'इति मन्त्राः। कल्पोऽत ऊर्ध्वम्। यदि बलिं हरेत' (ये उपर्युक्त मन्त्र हैं। इसके बाद यदि बलिं हरेत् आदि कल्प है)। अग्निचयन में 'यमगाथाभिः परिगायति' (यमगाथाओं से गाये) इस प्रकार विधान किए गए मन्त्र विशेष गाथा हैं। मनुष्यों के वृत्तान्त का प्रतिपादन करने वाली ऋचायें नाराशंसी कही जाती हैं। इसलिए मन्त्र और ब्राह्मण के व्यतिरिक्त भाग का अभाव होने से और मन्त्र तथा ब्राह्मण के स्वरूप के लक्षित हो जाने से वेद का मन्त्रब्राह्मणात्मक होना सुस्थिर हो गया।

पूर्वपक्ष— मन्त्र के अवान्तर भेदों—ऋक्, साम और यजुः—का लक्षण नहीं है।

उसी पाद में महर्षि जैमिनि ने मन्त्र के अवान्तर भेदों का इस प्रकार विचार किया है—

इदमाम्नायते—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूँषि' (तै० ब्रा० १।२।१।२६) इति। त्रीन् वेदान् विदन्तीति त्रिविदः। त्रिविदां संबन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः। ते च यं मन्त्रभागम् ऋगादिरूपेण त्रिविधमाहुस्तं गोपाय इति योजना। तत्र त्रिविधानामृक्सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणं नास्ति। कुतः? सांकर्यस्य दुष्परिहरत्वात्। अध्यापकप्रसिद्धेषु ऋग्वेदादिषु पठितो मन्त्र इति लक्षणं वक्तव्यम्। तच्च संकीर्णम्। 'देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः' (तै० सं० १।१।५।१) इत्ययं मन्त्रो यजुर्वेदे संप्रतिपन्नयजुषां मध्ये पठितः। न च तस्य यजुष्ट्वमस्ति तद्ब्राह्मणे 'सावित्र्यर्चा' (तै० ब्रा० ३।२।५।३) इति ऋक्त्वेन व्यवहृतत्वात्। 'एतत्साम गायन्नास्ते' (तै० आ० ६।१०।५) इति प्रतिज्ञाय किंचित् साम यजुर्वेदे गीतम्। 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि' (छा० उप० ३।१७।६) इति त्रीणि यजूँषि सामवेदे समाम्नातानि। तथा गीयमानस्य साम्न

(पूर्वपक्ष) ऋक्' साम और यजुःका कोई व्यवस्थित लक्षण नहीं हैं क्योंकि इन तीनों का परस्पर संकर है अर्थात् ये तीनों एक दूसरे से मिले हुए पाए जाते हैं। (सिद्धान्त) पादबद्ध होना ऋक् का, गान साम का तथा प्रश्लिष्ट-पाठ यजुः का लक्षण है जिससे इन तीनों में सांकर्य का दोष नहीं आता।

यह पाठ है 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूँषि' (हे बुध्निय मेरे मन्त्र की रक्षा करो जिस मन्त्र को त्रैविद ऋषि ऋक्, साम और यजुः के रूप में जानते हैं)। तीनों वेदों को जो जानते हैं वे त्रिविद् हैं। त्रिविदों से पढने वाले (अध्येता) त्रैविद हैं। और उन्होंने जिस मन्त्रभाग को ऋगादि के रूप से तीन प्रकार का कहा है उसकी रक्षा करो, यह योजना है। ऋक्, साम और यजुः इन तीन प्रकार के मन्त्रों का व्यवस्थित लक्षण नहीं है। क्यों? क्योंकि उनमें सांकर्य अर्थात् एक दूसरे से मिले हुए पाए जाने का जो दोष है उसका परिहार नहीं हो सकता। यदि कोई यह लक्षण करे कि अध्यापक-परम्परा में जो मन्त्र ऋग्वेद में पठित है वह ऋक् है, जो सामवेद में पठित है वह साम है और जो यजुर्वेद में पठित है वह यजुः है, तब तो यह लक्षण संकीर्ण है, क्योंकि 'देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः' यह मन्त्र यजुर्वेद में निर्विवादसिद्ध यजुः मन्त्रों के मध्य में पढा गया है। यह मन्त्र यजुः नहीं है क्योंकि इसके ब्राह्मण में 'सावित्र्यर्चा' कहकर इसे ऋक् के रूप में व्यवहृत किया गया है। 'एतत्साम गायन्नास्ते' (इस साम का गान करता रहता है) यह प्रतिज्ञा करके कुछ साम यजुर्वेद में गाए गए हैं। 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशि-

आश्रयभूता ऋचः सामवेदे समाम्नायन्ते। तस्मात् नास्ति लक्षणमिति चेत्, न, पादादीनामसंकीर्णलक्षणत्वात्। पादेन अर्थेन चोपेता वृत्तवद्धा मन्त्रा ऋचः, गीतिरूपा मन्त्राः सामानि, वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूँषि इत्युक्ते न कापि संकरः। तदेतत् त्रैविध्यं जैमिनिना सूत्रत्रयेण लक्षितम्—

'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था'

'गीतिषु सामाख्या'

'शेषे यजुशब्दः' (जै० सू० २।१।३५-३७) इति।

एतमेव मन्त्रावान्तरविशेषमुपजीव्य वेदानामृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद इति त्रैविध्यं संपन्नम्।

तेषां च वेदानां सर्वेषामन्यतमस्य वा स्वप्रज्ञानुसारेण अध्ययनमुपनीतेन कर्त्तव्यम्। तथा च याज्ञवल्क्यः स्मरति 'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्' इति। एकवेदपक्षे पितृपितामहादिपरंपराप्राप्त एव वेदोऽध्येतव्य इत्यभिप्रेत्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५) इति

तमसि' ये तीन यजुः सामवेद में पठित हैं। उसी प्रकार गाए जाने वाले साम की आश्रयभूत ऋचायें सामवेद में पढ़ी गई हैं। इसलिए ऋक्, साम और यजुः का कोई लक्षण नहीं है।

सिद्धान्तपक्ष—ऋक्, साम और यजुः का लक्षण है।

सिद्धान्ती का कहना है कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि इनका पाद आदि जो लक्षण है वह संकीर्ण नहीं है। पाद और अर्थ से युक्त छन्दोवद्ध मन्त्रों को ऋक्, गीतिरूप (गानरूप) मन्त्रों को साम और वृत्त (छन्द) तथा गीति (गान)—इन दोनों से रहित प्रश्लिष्टपठित मन्त्रों को यजुः कहा जाता है। इस प्रकार लक्षण करने पर कहीं पर भी सांकर्य नहीं रहता है। मन्त्र के इन तीन अवान्तर प्रकारों का लक्षण जैमिनि ने इन तीन सूत्रों के द्वारा किया है—'इन तीनों में ऋक् मन्त्र वह होता है जिसमें अर्थ के अनुसार पादों की व्यवस्था हो'। 'गान किए जाने वाले मन्त्रों को साम कहा जाता है'। 'शेष मन्त्रों को यजुः कहा जाता है'। मन्त्रों के इन तीन अवान्तर भेदों को उपजीवी (आश्रय) मानकर अर्थात् इन भेदों को दृष्टि में रखकर ही वेद भी तीन प्रकार का है—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद।

वेद का अध्ययन

अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) के अनुसार उन वेदों में सभी का अथवा किसी एक का अध्ययन उपनयन के बाद करना चाहिए। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है 'क्रमानुसार सभी वेदों का अथवा दो वेदों का अथवा एक वेद का

स्वशब्द आम्नातः। तच्चाध्ययनं न काम्यं किंतु नित्यम्। अत एव पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्—

'वेदस्याध्ययनं नित्यमनध्ययने पातात्' इति। पातित्यं चैवमाम्नायते—'अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रं वा एतत्तं योऽनूत्सृजत्यभागो वाचि भवत्यभागो नाके तदेषाभ्युक्ता—'यस्तित्याज सखिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति। यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थामिति।' तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (तै० आ० २।१५) इति। अध्येतारं पुरुषं तदीयप्रयासाभिज्ञानेन सखिवत् पालयतीति सखिविद्वेदः। बहुद्रव्यप्रयाससाध्यक्रतुफलस्याध्ययनमात्रेण संपादनं तत्पालनम्। तदप्याम्नायते 'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' (तै० आ० २।१५) इति।

यद्यप्येतत् ब्रह्मयज्ञस्वाध्यायफलं तथापि ग्रहणार्थाध्ययनमन्तरेण ब्रह्मयज्ञासंभवात् तदीयफलमपि संपद्यते। ईदृशं सखिविदं वेदरूपं सखायं यः पुमानध्ययनमकृत्वा परित्यजति तस्य वाच्यपि भाग्यं नास्ति। फले भाग्यं नास्तीति किमु वक्तव्यम्। सकलदेवतानां धर्मस्य परब्रह्मतत्त्वस्य च प्रतिपादकं वेदमनुच्चार्य परनिन्दानृतकलहहेतुं लौकिकीं वार्त्तां सर्वत्रो-

---

अध्ययन करके'। एक वेद के अध्ययन के पक्ष में पिता-पितामह आदि की परम्परा से प्राप्त ही वेद का अध्ययन करना चाहिए। इसी अभिप्राय को दृष्टि में रखकर 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (अपने वेद का अध्ययन करना चाहिए) इस अध्ययन-विधि में स्व शब्द का उल्लेख किया गया है और वह अध्ययन काम्य नहीं किंतु नित्य है। इसीलिए पुरुषार्थानुशान में यह सूत्रित किया गया है 'वेद का अध्ययन नित्य है क्योंकि अध्ययन न करने से पतित हो जाता है।' पतित होने की बात वेद में इस प्रकार कही गई है 'स्वाध्याय पापों का नाशक तथा देवताओं को भी पवित्र कर देने वाला है। उस स्वाध्याय को जो छोड़ देता है वह वाणी में भागरहित तथा स्वर्ग में भागरहित हो जाता है। जैसा कि इस ऋचा में कहा है—'जिसने सखिविद् (मैत्री जानने वाले) वेद को छोड़ दिया है, उसकी वाणी में भी भाग्य नहीं है। जो कुछ वह सुनता है, व्यर्थ सुनता है क्योंकि वह सुकृत (धर्म) के मार्ग को नहीं जानता'। इसलिए अपने वेद का अध्ययन करना चाहिए। वेद को सखिवित् इसलिए कहा गया है क्योंकि वह अपने अध्येता के परिश्रम को समझकर उसका मित्र की भाँति पालन करता है। बहुत द्रव्य और प्रयास से साध्य यज्ञ के करने से जो फल प्राप्त होता है उसे अध्येता केवल अध्ययन से प्राप्त कर लेता है; यही वेद के द्वारा पालन किए जाने का अर्थ है।

च्चारयतः स्पष्ट एव वाचि भाग्याभावः। अत एवाम्नायते—'नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्'। (बृ० उ० ४।४।२१) इति। यद्यप्यसौ काव्यनाटकादिकं शृणोति तथापि निरर्थकमेव तच्छ्रवणं तेन सुकृतमार्गज्ञानाभावादित्यर्थः। स्मृतिरपि—

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ (मनु० २।१६८) इति।

एवमन्यान्यपि बहूनि वचनान्यत्रोदाहर्तव्यानि।

ननु, अधीते वेदे पश्चाद् अध्ययनविध्यर्थज्ञानं, ज्ञाने सति पश्चाद् अध्ययनप्रवृत्तिः, इत्यन्योन्याश्रय इति चेत्, बाढम्। अत एव गुरुमतानुसारिणः आचार्यकर्तृकाध्यापनेन प्रवृत्ति माणवकाध्ययनयस्य महता प्रयासेन

इस तथ्य का भी वेद में उल्लेख किया गया है 'जिस जिस यज्ञ का अध्ययन करता है उस-उस से उसका यज्ञ (इष्ट = यज् + क्त) हो जाता है तथा वह अग्नि, वायु तथा आदित्य (सूर्य) के सायुज्य (सालोक्य, मुक्ति की चार अवस्थाओं में यह एक है) को प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि यह ब्रह्म-यज्ञ के स्वाध्याय का फल है तथापि ग्रहण करने के लिए जो अध्ययन किया जाता है उसके बिना ब्रह्म-यज्ञ असंभव होने से यह फल उस अध्ययन का भी सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के सखिविद् वेदरूप सखा का अध्ययन न करके जो पुरुष उसका परित्याग कर देता है उसकी वाणी में भी भाग्य नहीं है। इसका तो कहना ही क्या कि स्वर्गरूप फल में उसका भाग्य नहीं है। सभी देवताओं, धर्म एवं परब्रह्मतत्त्व के प्रतिपादक वेद का उच्चारण न करके दूसरों की निन्दा, असत्य, कलह आदि की हेतुभूत लौकिक वार्त्ता का जो व्यक्ति सर्वत्र उच्चारण करता है, स्पष्ट ही उसकी वाणी में भाग्य का अभाव है। इसलिए कहा गया है 'बहुत शब्दों को न बोले क्योंकि वह वाणी को दूषित करना है'। यद्यपि वह व्यक्ति काव्य-नाटक को सुनता है तथापि वह सुनना निरर्थक ही है क्योंकि उससे सुकृत (धर्म, पुण्य) के मार्ग का ज्ञान नहीं होता। स्मृति भी है—

'जो द्विज वेद का अध्ययन न करके अन्यत्र परिश्रम करता है, वह जीवित दशा में ही, अकेले नहीं अपितु अपने संपूर्ण वंश के साथ, शूद्रत्व को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है'।

इस प्रकार अन्य भी अनेक वचन इस विषय में उदाहरणीय हैं।

यदि कोई शंका करे कि वेद का अध्ययन कर लेने के पश्चात् अध्ययन-विधि के अर्थ का ज्ञान होता है और ज्ञान होने के बाद अध्ययन में प्रवृत्ति होती हैं और

संपादयन्ति। मतान्तरानुसारिणस्तु प्रकाशात्मादयोऽध्ययनात् प्रागेव संध्या-वन्दनादिविधिज्ञानवत् पित्रादिभ्योऽध्ययनविधिज्ञानं वर्णयन्ति। यद्यध्यापनविधिप्रयुक्तिर्यदि वा स्वविधिप्रयुक्तिः सर्वथाप्युपनीतैरध्येतव्य एव

इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष[1] होता है, तो हम इस दोष को स्वीकार करते हैं। इसीलिए गुरुमत का अनुसरण करने वाले मीमांसक आचार्य के द्वारा किए गए अध्यापन से माणवक के अध्ययन की प्रवृत्ति को महान् प्रयास से संपादित करते हैं। अन्य मत का अनुसरण करने वाले प्रकाशात्म आदि

१. 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह वाक्य तैत्तिरीय आरण्यक में आया है। 'स्वाध्याय' (स्वस्य अध्यायः स्वाध्यायः) का अर्थ है अपने पितृ-पितामहों की परम्परा से प्राप्त वेद। अधि पूर्वक इङ् धातु के साथ तव्य प्रत्यय के योग से 'अध्येतव्य' शब्द निष्पन्न हुआ है। अधि पूर्वक इङ् धातु का अर्थ है अध्ययन। गुरुमुखोच्चारणपूर्वकशिष्यानूच्चारण को अध्ययन कहते है। तव्य प्रत्यय का अर्थ है आर्थी भावना। उस आर्थी भावना में स्वाध्याय का कर्मत्वेन और अध्ययन का करणत्वेन अन्वय होता है जिससे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्य का अर्थ हुआ–'अध्ययनेन (गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणेन) स्वाध्यायं (स्वकुल-परम्परागतं वेदम्) भावयेत् (प्राप्नुयात्) अर्थात् अध्ययन क्रिया के द्वारा अपने वेद को प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह वेद-वाक्य वेद के अध्ययन की ओर हमें प्रवृत्त करता है। इसलिए तैत्तिरीय आरण्यक में आए हुए इस वाक्य को अध्ययन-विधि कहते हैं।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वेद का अध्ययन करने के पश्चात् माणवक को इस अध्ययन-विधि के अर्थ का ज्ञान होता है। अधिकांश वेद का अध्ययन कर चुकने पर जब माणवक तैत्तिरीय आरण्यक का अध्ययन करता है तब उसका इस वाक्य से साक्षात्कार होता है और तब उसे यह ज्ञान होता है कि वेद अध्ययन की ओर हमें प्रवृत्त करता है और इसलिए वेद का अध्ययन हमारा कर्त्तव्य है। दूसरी ओर माणवक की अध्ययन की ओर प्रवृत्ति तभी हो सकती है जब उसे यह ज्ञान हो कि वेद का अध्ययन करना हमारा कर्त्तव्य है। इस प्रश्न को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार रख सकते हैं—क्या हम पहले वेद का अध्ययन करते हैं और तब बाद में अध्ययन-विधि का अर्थ जानते हैं अथवा हम पहले अध्ययन-विधि का अर्थ जान लेते हैं और तब वेद का अध्ययन करते हैं?

इस दोष को स्वीकार करते हुए सिद्धान्ती बतलाते हैं कि किस प्रकार मीमांसकों ने इस दोष से बचने का प्रयास किया है। प्रभाकर (गुरु) के मत का

वेदः। तस्य च अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वम् अक्षरग्रहणान्तत्वं च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्। तानि सूत्राणि तद्वृत्तिं च उदाहरामः—

अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं साधयितुं पूर्वपक्षयति—

'अदृष्टार्था त्वधीतिर्विहितत्वात्' इति।

का तो यह कहना है कि माणवक को संध्या-वन्दन आदि की विधियों के ज्ञान की तरह अध्ययन-विधि का ज्ञान भी अध्ययन से पूर्व ही पिता आदि से हो जाता है। चाहे अध्यापन-विधि के द्वारा अध्ययन की ओर प्रवृत्ति हो और चाहे अध्ययन-विधि के द्वारा प्रवृत्ति हो, सब प्रकार से उपनयन के अनन्तर वेद का अध्ययन अवश्य ही करना चाहिए। और पुरुषार्थानुशासन में यह सूत्रित किया गया है कि उस अध्ययन का दृष्ट प्रयोजन है और वह अक्षर-ग्रहण तक सीमित है। उन सूत्रों तथा उनकी वृत्ति को उद्धृत करेंगे।

अध्ययन के दृष्ट प्रयोजन को साधने के लिए (पहले) पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हैं—

पूर्वपक्ष—अध्ययन अदृष्ट फल के लिए है।

'अध्ययन अदृष्ट के लिए है, विहित होने से'[1]।

अनुसरण करने वाले और कुमारिल भट्ट के मत का अनुसरण करने वाले प्रकाशात्म आदि ने भिन्न प्रकार से इस दोष का परिहार किया है। गुरु मत के अनुसार 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीत' इस अध्ययन-विधि के अनुसार आचार्यत्व की कामना करने वाला व्यक्ति अपने अध्यापकत्व की सिद्धि के लिए माणवक को अध्ययन की ओर प्रेरित करेगा क्योंकि आचार्यकर्तृक अध्यापन माणवक-कर्तृक अध्ययन के बिना सिद्ध नहीं हो सकता है। इस प्रकार अध्यापन-विधि के द्वारा ही माणवक की अध्ययन की ओर प्रवृत्ति हो सकती है। इस प्रवृत्ति के लिए अध्ययन-विधि के अर्थ का ज्ञान आवश्यक नहीं है। दूसरे मत का अनुसरण करने वाले प्रकाशात्म आदि मीमांसकों का कहना है कि जिस प्रकार माणवक को अध्ययन के बिना ही संध्या-वन्दन आदि की विधियों का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार पिता आदि से उसे अध्ययम-विधि के अर्थ का भी ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार पिता आदि माणवक को यह बतला देता है कि संध्या-वन्दन करना चाहिए, उसी प्रकार वह यह भी बतला देता है कि वेद का अध्ययन करना भी माणवक का कर्त्तव्य है। और इससे माणवक की वेद के अध्ययन की ओर प्रवृत्ति हो जाती है।

१. पूर्व पक्ष का तात्पर्य यह है कि जिन क्रियाओं का फल दृष्ट होता है उनके लिए विधान नहीं किया जाता। दृष्ट फल को प्राप्त करने के उद्देश्य से ऐसी क्रियाओं में तो व्यक्ति स्वयं प्रवृत्त हो जाता है। इसके विपरीत जिन

दृष्टफलसाधने भोजनादौ विध्यदर्शनाद् विहितमपि अध्ययनमदृष्टार्थ-मवगन्तव्यम् ॥ अदृष्टविशेषो न श्रुत इति चेत्, तत्राह—

'घृतकुल्याद्यतिदेशः स्वर्गकल्पनं वा' इति ।

ब्रह्मयज्ञजपाध्ययनार्थवादं नित्याध्ययनेऽतिदिश्य तत्रत्यं घृतकुल्यादिकं रात्रिसत्रन्यायेन फलत्वेन कल्पनीयम् । ये तु अर्थवादातिदेशं नेच्छन्ति तैर्विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गः कल्पनीयः ॥ दृष्टफलयोः संस्कारप्राप्त्योः संभवे कथमदृष्टकल्पना इत्यत आह—

क्रियाओं का फल अदृष्ट होता है ऐसी क्रियाओं में व्यक्ति प्रवृत्त नहीं होता है क्योंकि उसे तुरन्त फल मिलने की आशा नहीं होती है। ऐसी क्रियाओं का वेद में विधान किया गया है। उदाहरण के लिए तृप्ति को उद्देश्य करके कहीं भी ऐसा विधान नहीं किया गया है कि 'भोजन करना चाहिए', क्योंकि तृप्ति के लिए भोजन करने में तो व्यक्ति स्वयं प्रवृत्त होता है। इसके विपरीत

दृष्ट फल के साधन भोजन आदि के लिए विधि के दिखलाई न पड़ने से विहित अध्ययन को अदृष्ट के लिए जानना चाहिए।

यदि कोई कहे कि अध्ययन से उत्पन्न अदृष्टविशेष कहीं भी नहीं कहा गया है,[1] तो उत्तर देते हैं—

'घृतकुल्या आदि का अतिदेश कर लो अथवा स्वर्ग की कल्पना कर लो'

ब्रह्मयज्ञजप के अध्ययन के अर्थवाद का प्रकृत नित्य अध्ययन (ग्रहण अध्ययन) की विधि में अतिदेश करके वहाँ पर प्रतिपादित घृतकुल्या आदि को रात्रिसत्र-न्याय से फल रूप से कल्पित कर लेना चाहिए। किंतु जो अर्थवाद का अतिदेश नहीं करना चाहते, उन्हें विश्वजित् न्याय से स्वर्ग की कल्पना कर लेनी चाहिए।

यदि कोई शंका करे कि संस्कार और प्राप्ति रूप दृष्ट फल के संभव होने पर अदृष्ट की कल्पना क्यों करते हो[1], तो उत्तर देते हैं—

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में अध्ययन का विधान किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि अध्ययन दृष्ट प्रयोजन के लिए न होकर अदृष्ट प्रयोजन के लिए है। अध्ययन का दृष्ट प्रयोजन होता तो भोजन की तरह इसका भी विधान न किया जाता।

१. शंका का आशय यह है कि 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः,' 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि विधि-वाक्यों में विहित अदृष्ट फल वाले याग आदि क्रियाओं के अदृष्ट फल का स्पष्टतया निर्देश किया गया है। इसके विपरीत 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधि में विहित अध्ययन के अदृष्ट फल का कहीं निर्देश नहीं किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि अध्ययन का अदृष्ट फल नहीं है।

इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना है कि अदृष्ट फल वाले ऐसे भी विधि-वाक्य हैं जिनके फल का निर्देश नहीं हुआ है। ऐसे स्थलों पर रात्रिसत्रन्याय

'अयुक्ते संस्कारप्राप्ती' इति ।

संस्कृतस्वाध्यायस्य क्वचित् क्रतौ विनियोगादर्शनात् प्राप्तेः स्वयमपुरुषार्थत्वाच्च इत्यर्थः ।

'संस्कार और प्राप्ति युक्त फल नहीं है'।

किसी भी यज्ञ में संस्कृत स्वाध्याय का विनियोग दिखलाई न पड़ने से और प्राप्ति के स्वयं पुरुषार्थ न होने से ये दोनों अध्ययन के युक्त फल नहीं हैं।

अथवा विश्वजित् न्याय से अदृष्ट की प्राप्ति हो जाती है। रात्रिसत्रविधि का फल प्रतिपादित नहीं है किंतु उसके स्तावक अर्थवाद में प्रतिष्ठा रूप फल प्रतिपादित किया गया है—'प्रतितिष्ठन्ति ह वा एते, य एता रात्रीरुपयन्ति'। अर्थवाद में प्रतिपादित इस प्रतिष्ठा रूप फल को प्रत्यासन्न होने के कारण रात्रिसत्रविधि का फल मान लिया गया है। प्रस्तुत में हम देखते हैं कि प्रकृत ग्रहण अध्ययन के तो नहीं किंतु ब्रह्मयज्ञजप अध्ययन के अर्थवाद में फल का निर्देश हुआ है 'यदृचोऽधीते पयसः कुल्यास्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति; यद् यजूंषि घृतस्य कुल्या, यत् सामानि सोम एभ्यः पवते, यदथर्वाङ्गिरसो मधोः कुल्या' (तै० आ० २।१०)। अतएव पहले हम ब्रह्मयज्ञजप अध्ययन के अर्थवाद का नित्य अध्ययन की विधि में अतिदेश करते हैं क्योंकि दोनों अध्ययन ही तो हैं। एक स्थल पर प्रतिपादित पदार्थ की अन्यत्र प्राप्ति को अतिदेश कहते हैं। इस अतिदेश से जब ब्रह्मयज्ञजप अध्ययन के अर्थवाद का नित्य अध्ययन के साथ स्तावक के रूप में संबन्ध हो जाता है तो इस अर्थवाद में प्रतिपादित घृतकुल्यादि को अध्ययन का फल मान लेते हैं। किंतु जो लोग अर्थवाद का अतिदेश करना नहीं चाहते उन्हें विश्वजित् न्याय से स्वर्ग को अध्ययन का फल मान लेना चाहिए। 'विश्वजिता यजेत' इस वाक्य के द्वारा विहित विश्वजित् याग का कोई फल प्रतिपादित नहीं किया गया है किंतु फल अवश्य होना चाहिए क्योंकि भावना भाव्य की अपेक्षा करती है। यहाँ आकांक्षा होती हैं कि विश्वजित् नामक याग के द्वारा क्या प्राप्त करें। ऐसी अवस्था में मीमांसकों ने स्वर्ग को विश्वजित् याग का फल कल्पित किया है क्योंकि दुःख से सर्वथा रहित होने के कारण और निरतिशय सुख से युक्त होने से स्वर्ग सभी को इष्ट है जबकि पुत्र, पशु आदि सभी को सर्वदा अभीष्ट नहीं होते। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि का फल भी निर्दिष्ट नहीं हुआ है। अतः विश्विजित् याग की भाँति यहाँ भी स्वर्ग को अध्ययन का फल कल्पित कर लेना चाहिए। इसलिए फल के निर्दिष्ट न होने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि अध्ययन अदृष्टार्थ नहीं है।

१. शंका का आशय—न्याय यह है कि दृष्ट फल के संभव होने पर अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करनी चाहिए (दृष्टफले संभवति नादृष्टपरिकल्पना; दृष्टं वरम-

स्वाध्यायप्राप्तिरर्थप्रमितिहेतुतया पुरुषार्थ इत्याशङ्क्य विषनिर्हरणादिकार्यविनियुक्तमन्त्रवद् अध्ययनाङ्गतया विनियुक्तानां ज्योतिष्टोमादिवाक्यानां न स्वार्थे प्रामाण्यमित्याह—

स्वाध्याय की प्राप्ति अर्थप्रमिति का हेतु होने से पुरुषार्थ है,[1] यह शंका करके उत्तर देते हैं कि विषनिर्हरण रूप कार्य में विनियुक्त मन्त्रों की तरह अध्ययन के अङ्ग के रूप में विनियुक्त ज्योतिष्टोम आदि वाक्यों का अपने अर्थ में प्रामाण्य नहीं है—

अदृष्टतः)। प्रस्तुत अध्ययन का दृष्ट फल संभव है। गुरुमुखोच्चारणपूर्वकानूच्चारण रूप अध्ययन से स्वाध्याय का संस्कार हो जाता है। इस प्रकार के अध्ययन के विना यदि स्वाध्याय को लिखित पाठ आदि से कण्टस्थ कर लिया जाय तो वह स्वाध्याय संस्कार से युक्त नहीं होता है। अतः स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि वाक्य के द्वारा विहित अध्ययन के द्वारा हमारा स्वाध्याय संस्कृत हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्वाध्याय की प्राप्ति हो जाती है-हमें वेद कण्ठस्थ हो जाता है-हमें वेद के अक्षरों की प्राप्ति हो जाती है। अतः अध्ययन से हमें दो फल मिले—स्वाध्याय का संस्कार और स्वाध्याय की प्राप्ति। इन दो फलों के संभव होने पर स्वर्ग रूप अदृष्ट फल की कल्पना उचित नहीं है।

इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना है कि ऐसी बात नहीं है। संस्कार कदापि अध्ययन का फल नहीं हो सकता है। किसी पदार्थ को संस्कृत करने की उपयोगिता यह होती है कि उत्तर क्रतु (यज्ञ) में उस संस्कृत पदार्थ का उपयोग हो। जैसे, 'व्रीहीन् प्रोक्षति' में प्रोक्षण के द्वारा व्रीहि को संस्कृत किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप व्रीहि का उत्तर क्रतु में विनियोग होता है। प्रस्तुत में अध्ययन के द्वारा संस्कृत स्वाध्याय का कहीं भी विनियोग किया गया दिखलाई नहीं पड़ता। कहीं पर भी यह नहीं कहा गया है कि इस यज्ञ में संस्कृत मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिए। ऐसी अवस्था में अनुपयुक्त संस्कार को अध्ययन का फल मानना कथमपि उचित नहीं। इसी प्रकार स्वाध्याय की प्राप्ति (वेद के अक्षरों को कण्ठस्थ कर लेना) भी अध्ययन का फल नहीं हो सकती क्योंकि अक्षर-प्राप्ति स्वयं में पुरुषार्थ-अभिलषित पदार्थ-नहीं है। कोई भी व्यक्ति अध्ययन केवल इसलिए नहीं करता कि ऐसा करने से उसे स्वाध्याय की प्राप्ति हो जाती है। स्वाध्याय-प्राप्ति किसी अन्य लाभ को दृष्टि में रखकर की जा सकती है, स्वयं अपने लिए नहीं। वह साधन हो सकती है, साध्य नहीं।

१. इस पर शंका होती है कि माना स्वाध्याय की प्राप्ति स्वयं पुरुषार्थ नहीं है किंतु वह असाक्षात् रूप से पुरुषार्थ है। अक्षर-प्राप्ति अर्थज्ञान का हेतु है

अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम्' इति ।

अध्ययनविधायकं तु वाक्यं स्वविहिताध्ययनस्यैव अङ्गमिति कृत्वा स्वार्थप्रमाणमित्याह—

'अध्ययनवाक्यमनन्याङ्गम्' इति ।

'अन्य का अङ्ग अपने अर्थ का प्रमापक (प्रतिपादक) नहीं होता' ।

अध्ययनविधायक वाक्य तो अपने द्वारा विहित अध्ययन का ही अङ्ग है,[1] इसलिए वह अपने अर्थ में प्रमाण है—

'अध्ययन वाक्य अन्य का अङ्ग नहीं है' ।

क्योंकि अक्षर-प्राप्ति के विना अर्थ-ज्ञान नहीं हो सकता और अक्षर प्राप्ति होने पर अर्थ-ज्ञान होता है। जहाँ तक अर्थ ज्ञान का संबन्ध है वह तो स्वयं पुरुषार्थ है क्योंकि अर्थ-ज्ञान के अनन्तर ही हम स्वर्ग आदि फलों को उद्दिष्ट करके ज्योतिष्टोम आदि यागों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं और अर्थ-ज्ञान के अनन्तर ही अनर्थ फल के साधनभूत श्येन आदि यागों से निवृत्त होते हैं। अतएव अर्थज्ञान का हेतु होने से अक्षरप्राप्ति पुरुषार्थ है।

इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि वेद के वाक्यों का उसी प्रकार अपना कोई अर्थ नहीं होता, जिस प्रकार विष उतारने के मन्त्र का कोई अर्थ नहीं होता। विष उतारने का मन्त्र विष उतारने के कार्य में विनियुक्त है। वह मन्त्र विष उतारने में समर्थ होता है किंतु इस कार्य में विनियुक्त होने से इस वाक्य का अपना कोई अर्थ नहीं होता; क्योंकि नियम यह है कि जो वाक्य दूसरे का अङ्ग होता है वह अपना स्वतन्त्र अर्थ प्रतिपादित नहीं कर सकता। ज्योतिष्टोम आदि वैदिक वाक्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्य से विहित अध्ययन का अङ्ग हैं क्योंकि इन वाक्यों से ही तो अध्ययन सम्पन्न हो सकता है—इन वाक्यों के अभाव में अध्ययन किसका किया जा सकता है। इस प्रकार ज्योतिष्टोम आदि वाक्य स्वतन्त्र न होने से अपना अर्थ प्रतिपादित नहीं कर सकते—उनका अपने अर्थ में प्रामाण्य नहीं है। अतएव यह कहना उचित नहीं कि स्वाध्याय की प्राप्ति अर्थ-ज्ञान का हेतु होने से अध्ययन का फल है।

१. इस पर यह शंका होती है कि जिस प्रकार ज्योतिष्टोम आदि वाक्यों का अध्ययन का अङ्ग होने के कारण अपने अर्थ में प्रामाण्य नहीं है, उसी प्रकार अध्ययन का विधान करने वाले 'स्वाध्यायोऽध्येव्यः' इस वाक्य का भी अपने अर्थ में प्रामाण्य नहीं हो सकता क्योंकि यह वाक्य भी स्वविहित अध्ययन का

ननु एवमदृष्टार्थत्वे कर्मकारकभूतस्वाध्यायगतफलाभावाद् 'अध्येतव्यः' इति कर्मवाची तव्यप्रत्ययो विरुध्येत इत्यत आह—

'सक्तुवत् करणपरिणामः' इति ।

शंका होती है कि इस प्रकार अध्ययन को अदृष्ट के लिए मानने पर कर्मकारकभूत स्वाध्याय में किसी भी फल का अभाव होने से 'अध्ये व्यः' में कर्मवाची तव्य प्रत्यय का विरोध पड़ता है[1]। उत्तर देते हैं—

'सक्तु की तरह करण में परिणाम कर लेना चाहिए[2]।

अङ्ग है। जिस प्रकार ज्योतिष्टोम आदि वाक्य अध्ययन के अन्तर्गत आते हैं, उसी प्रकार यह वाक्य भी अध्ययन के अन्तर्गत आता है। इस अध्ययन-विधि के अप्रामाण्य होने पर तो अध्ययन करना ही व्यर्थ होगा क्योंकि अध्ययन-विधायक वाक्य प्रमाण नहीं है और इस वाक्य के द्वारा विहित अध्ययन का भी प्रामाण्य नहीं।

इस पर पूर्वपक्षी उत्तर देते हैं कि अध्ययन-विधायक वाक्य का प्रामाण्य है क्योंकि यह वाक्य किसी अन्य का तो अङ्ग नहीं, अपने द्वारा विहित अध्ययन का ही तो अङ्ग है। नियम तो यह है कि जो अन्य का अङ्ग होता है उसका अपने अर्थ में प्रामाण्य नहीं होता। इस नियम से अध्ययन—वाक्य का स्वार्थ में प्रामाण्य स्पष्ट है और ज्योतिष्टोम आदि वाक्यों का अप्रामाण्य भी स्पष्ट है।

१. यहाँ पर शंकाकार का यह कहना है कि यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि अध्ययन का फल अदृष्ट है, तब भी व्याकरण की एक भयंकर विषमता हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाती है। 'अध्येतव्यः' में जो 'तव्य' प्रत्यय है वह कर्मवाची कृदन्त प्रत्यय है और इस वाक्य में 'स्वाध्याय' कर्म है। व्याकरण के नियम के अनुसार कर्मवाच्य की क्रिया का फल कर्म से सम्बद्ध होना चाहिए। हमारे मतानुसार अध्ययन का दृष्ट फल संस्कार और प्राप्ति है जो स्वाध्याय से सम्बद्ध हैं क्योंकि स्वाध्याय का ही संस्कार होता है और स्वाध्याय की ही प्राप्ति होती है। किंतु आपके मतानुसार अध्ययन का फल स्वर्गरूप अदृष्ट है और इस अदृष्ट फल का स्वाध्याय के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इसलिए स्वर्ग अध्ययन का फल नहीं माना जा सकता।

२. इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना है कि हम इस व्याकरण विषयक विषमता को स्वीकार करते हैं किंतु हम इस विषमता का समाधान ठीक उसी प्रकार कर सकते हैं जिस प्रकार हम और आप सभी लोगों ने 'सक्तून् जुहोति' वाक्य में किया है। 'सक्तून् जुहोति' वाक्य से ज्ञात होता है कि कर्म कारक

'सक्तून्जुहोति' इत्यत्र कर्मत्वेन प्रधानभूतान् सक्तून् उद्दिश्य होमसंस्कारविधाने प्रतीयमानेऽपि होमसंस्कृतानां भस्मीभूतानां सक्तूनामन्यत्र विनियोगाभावात् कर्मप्राधान्यं हित्वा शक्तुभिर्जुहोतीति करणपरिणामः कृतः। एवमत्रापि कर्मगतयोः संस्कारप्राप्त्योरसंभवात् स्वाध्यायेन अधीयीत इति वाक्यपरिणामः कर्तव्यः।

इदानीं दृष्टफले सति अदृष्टफलं न कल्प्यमिति सिद्धान्तयति—

'दृष्टे तु नादृष्टम्' इति।

किं तद् दृष्टफलमिति तदाह—

'सक्तून् जुहोति' में कर्मकारक होने के कारण प्रधानभूत सक्तु को उद्दिष्ट करके होमसंस्कार का विधान प्रतीत होता है किन्तु होम से संस्कृत हुए भस्मीभूत सक्तुओं का अन्यत्र विनियोग न होने से कर्म के प्राधान्य को छोड़कर 'सक्तुभिर्जुहोति' ऐसे करण कारक में विपरिणाम करते हैं। इसी प्रकार यहाँ पर भी कर्मगत (स्वाध्यायगत) संस्कार और प्राप्ति के संभव न होने से 'स्वाध्यायेन अधीयीत' इस प्रकार वाक्य का परिणाम कर लेना चाहिए।

सिद्धान्तपक्ष—अध्ययन का दृष्ट फल है।

अब यह सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि दृष्ट फल के होने पर अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करनी चाहिए—

'दृष्ट होने पर अदृष्ट नहीं'।

यदि कोई पूछे कि वह दृष्ट फल क्या है, तो हमारा कहना है कि 'अक्षर-

---

होने के कारण प्रधानभूत सक्तु को उद्देश्य करके होम संस्कार का विधान किया गया है-'होमेन सक्तून् संस्कुर्यात्' (सक्तुओं को होम से संस्कृत करे)। किंतु होम के द्वारा संस्कृत करने पर तो वे सक्तु राख बन जायेंगे—उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा और तब उत्तर क्रतु में उनके विनियोग का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव संस्कार करना ही व्यर्थ हुआ। ऐसी स्थिति में सक्तु के कर्मप्राधान्य को छोड़कर उसका करण में विपरिणाम कर देते हैं और यह वाक्यार्थ हो जाता है-'सक्तुभिः जुहोति-सक्तुभिः होमं भावयेत्'। इसी प्रकार प्रस्तुत में भी संस्कार और प्राप्ति के युक्त फल न होने से तथा अध्ययन के अदृष्ट फल का स्वाध्याय के साथ संबन्ध न होने से स्वाध्याय के कर्मप्राधान्य को छोड़कर इसका करण में विपरिणाम कर देते हैं-'स्वाध्यायेन अधीयीत—स्वाध्यायेन अध्ययनं भावयेत्; अध्ययनेन अदृष्टं भावयेत्'। इस प्रकार वाक्यार्थ करने से कोई विषमता नहीं रहती। अतः सिद्ध हो गया कि वेद का अध्ययन अदृष्ट फल के लिए है।

'दृष्टौ प्राप्तिसंस्कारौ' इति ।

अक्षरप्राप्तेः परम्परया पुरुषार्थत्वमाह—

'प्राप्त्यार्थबोधः' इति ।

न च भोजनादिवद् अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वाद् विधिवैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम् । अवघातादिवन्नियमादृष्टाय विध्युपपत्तेरित्याह—

'विधिर्निष्पत्त्याः' इति ।

प्राप्ति और संस्कार-ये दोनों अध्ययन के दृष्ट फल हैं' । अक्षरप्राप्ति के परम्परा से पुरुषार्थ (अभिलषित पदार्थ) होने को कहते हैं—

'प्राप्ति से अर्थबोध उत्पन्न होता है' । (तात्पर्य यह है कि अक्षरप्राप्ति कर लेने पर अर्थ-ज्ञान हो जाता है और अर्थ-ज्ञान पुरुषार्थ है । अतः अर्थ-ज्ञान का हेतु होने से अक्षर-प्राप्ति भी पुरुषार्थ हो जाती है ।

यहाँ पर यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि भोजन आदि की तरह अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध हो जाने पर विधि व्यर्थ है[1] क्योंकि अवघात आदि की भाँति नियमादृष्ट के लिए विधि उपपन्न है—'विधि की निष्पत्ति हो जाने से' ।

---

१. शंका का आशय यह है कि जहाँ पर कोई वस्तु अन्वय–व्यतिरेक से सिद्ध हो जाती है वहाँ विधि की आवश्यकता नहीं होती । जैसे––भोजन करने से तृप्ति होती है और भोजन न करने से तृप्ति नहीं होती है । दोनों में कारण-कार्यभाव संबन्ध है । उसी प्रकार अध्ययन करने से अक्षर-प्राप्ति होती है और अध्ययन न करने से अक्षर-प्राप्ति नहीं होती हैं । दोनों में कारणकार्यभाव संबन्ध है । अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होने के कारण जिस प्रकार तृप्ति को उद्दिष्ट करके अध्ययन का विधान व्यर्थ है । उसी प्रकार अक्षर–प्राप्ति को उद्दिष्ट करके अध्ययन का विधान व्यर्थ है ।

सिद्धान्ती इस शंका का समाधान नियमविधि के द्वारा करते हैं । नियम-विधि का उदाहरण है 'व्रीहीन् अवहन्ति' । यहाँ पर वैतुष्य अथवा निष्तुषीकरण का सम्पादन करना है । यह वैतुष्य नखविदलन, अश्मकुट्टन अथवा अवहनन से संपादन किया जा सकता है, किन्तु यह नियमविधि यह नियम कर देती है कि अवहनन के द्वारा ही वैतुष्य का सम्पादन करना चाहिए । वैतुष्य और अवघात का कार्यकारणभाव अत्यन्त अप्राप्त नहीं है क्योंकि हम लोकव्यवहार से ही जानते हैं कि यदि हम व्रीहि का अवहनन करते हैं तो वैतुष्य का सम्पादन हो जाता है (अन्वय) और यदि हम अवहनन नहीं करते हैं तो वैतुष्य का संपादन नहीं होता (व्यतिरेक)। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक के द्वारा वैतुष्य और अवघात के कार्यकारणभाव का ज्ञान होता है । यदि कोई पूछे कि वैतुष्य के

यत्तूक्तं संस्कृतस्य स्वाध्यायस्य विनियोगादर्शनान्न संस्कार इति, तत्राह—

'संस्कारसिद्धिः क्रत्वध्ययनविधिद्वयोपादानात्' इति।

क्रतुविधयो हि विषयावबोधमपेक्षमाणास्तदवबोधे स्वाध्यायं विनियुञ्जते। अध्ययनविधिश्च लिखितपाठादिव्यावृत्त्या अध्ययनसंस्कृतत्वं स्वाध्यायस्य गमयति। अत उभयोपादानात् तत्सिद्धिः।

यह जो कहा गया है कि संस्कृत स्वाध्याय का कहीं विनियोग दिखलाई न पड़ने से संस्कार को अध्ययन का दृष्ट फल नहीं माना जा सकता, इसका उत्तर देते हैं—

'क्रतुविधि और अध्ययनविधि—इन दोनों—के उपादान से संस्कार की सिद्धि होती है'।

क्रतु (यज्ञ) की विधियाँ विषय के बोध (ज्ञान) की अपेक्षा करती हुई उसके बोध के लिए स्वाध्याय का विनियोग करती हैं और अध्ययनविधि

लिए अवहनन का ही नियम क्यों करते हैं ? चाहे हम नखविदलन का आश्रय लें चाहे अश्मकुट्टन का और चाहे अवघात का—प्रत्येक अवस्था में अन्तिम फल तो एक ही है—वैतुष्य। इसका उत्तर यह है कि दूसरे उपायों को छोड़कर जो अवहनन का ही नियम किया गया है उसका कोई दृष्ट फल प्रतीत नहीं होता है। अतः हम कल्पना करते हैं कि इसका कोई अदृष्ट फल है। इसका यह अर्थ हुआ कि यदि हम अवहनन के द्वारा वैतुष्य का संपादन करते हैं तो हमें एक अदृष्ट फल मिलता है जिसे हम नियमादृष्ट अथवा नियमापूर्व कहते हैं। यदि हम नखविदलन अथवा अश्मकुट्टन के द्वारा वैतुष्य का सम्पादन करते हैं तो नियमादृष्ट की प्राप्ति नहीं होती। प्रस्तुत में भी अक्षरप्राप्ति और अध्ययन का कार्यकारणभाव अत्यन्त अप्राप्त नहीं है क्योंकि हम जानते हैं कि यदि हम अध्ययन करते हैं तो अक्षर-प्राप्ति हो जाती है (अन्वय) और यदि हम अध्ययन नहीं करते तो अक्षर-प्राप्ति नहीं होती (व्यतिरेक)। किंतु अक्षर-प्राप्ति तो अध्ययन ('गुरुमुखोच्चारणपूर्वकानूच्चारण) और लिखितपाठ–इन दोनों से हो सकती है। ऐसी अवस्था में 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह नियम-विधि यह नियम कर देती है कि अध्ययय से ही अक्षर-प्राप्ति करनी चाहिए। ऐसा करने से नियमादृष्ट की प्राप्ति होती है। लिखितपाठ के द्वारा अक्षर-प्राप्ति करने से इस नियमादृष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि यह विधि नियमादृष्ट के लिए होने से निष्पन्न है, व्यर्थ कदापि नहीं।

ननु संस्कारो नाम अदृष्टातिशयः। स च न स्वाध्यायगतः, तव्य-प्रत्ययेन स्वपदोपात्तप्रकृत्यर्थभूताध्ययनोपरक्तापूर्वाभिधानात्। ततः कथं स्वाध्यायस्य संस्कृतत्वम् इति तत्राह।

'तव्यः कर्मगादृष्टवाची' इति।

लिखित पाठ आदि की व्यावृत्ति करके अध्ययन के द्वारा स्वाध्याय के संस्कृत होने को बतलाती है। इसलिए दोनों के उपादान से उसकी सिद्धि होती है।[1]

शंका होती है कि संस्कार तो अदृष्टविशेष को कहते हैं और वह संस्कार स्वाध्याय में नहीं हो सकता क्योंकि तव्यप्रत्यय अपने पद से उपात्त (गृहीत)

---

१. यागविषयक विधियाँ उन-उन याग से सम्बद्ध विषय के ज्ञान की अपेक्षा रखती हैं और वह ज्ञान स्वाध्याय से ही प्राप्त हो सकता है जिसके लिए स्वाध्याय का आश्रय लेना आवश्यक है। उदाहरण के लिए—'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' यह ज्योतिष्टोम-याग विषयक विधि है जिसका अर्थ है कि ज्योतिष्टोम याग का अनुष्ठान करके स्वर्ग को प्राप्त करे। अब यह आवश्यक हो जाता है कि हम लोग ज्योतिष्टोम-याग के सम्पादन की पद्धति को जानें जिसके अनुसार ज्योतिष्टोम-याग का सम्पादन कर हम स्वर्ग प्राप्त करें। याग की पद्धति का ज्ञान हमें स्वाध्याय (अपने वेद) से ही हो सकता है। अतः यह आवश्यक है कि यागों के संपादन के लिए हम अपने वेद को प्राप्त करें। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि क्रतु-विधियाँ हमें अपने वेद को प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त करती हैं। हम वेद को अध्ययन (गुरुमुखोच्चारणपूर्वकानूच्चारण) से भी प्राप्त कर सकते हैं और लिखित पाठ आदि से भी प्राप्त कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में अध्ययन-विधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) लिखित पाठ आदि की व्यावृत्ति करके यह नियमन कर देती है कि अध्ययन (गुरुमुखोच्चारणपूर्वकानूच्चारण) के द्वारा ही वेद (स्वाध्याय) को प्राप्त करना चाहिए। ऐसा करने पर स्वाध्याय का संस्कार हो जाता है जिससे नियमादृष्ट की उत्पत्ति होती है। अध्ययन के द्वारा संस्कृत स्वाध्याय (वैदिक मन्त्रों) के द्वारा ही यागों का सम्पादन किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति अध्ययन के द्वारा अपने वेद (स्वाध्याय) का संस्कार न करके लिखित पाठ से ही वेद की प्राप्ति करके यज्ञों का अनुष्ठान करता है तो ऐसे यज्ञ निष्फल ही होंगे। इससे सिद्ध हुआ कि अध्ययन से संस्कृत किए गए स्वाध्याय से ही यागों का अनुष्ठान किया जा सकता है और पूर्वपक्षी का यह कहना निराधार है कि संस्कृत स्वाध्याय का कहीं विनियोग नहीं है। इस प्रकार अक्षर-प्राप्ति की भाँति संस्कार भी अध्ययन का दृष्ट फल है।

अत्र तव्यप्रत्ययस्य कर्माभिधायितया कर्मकारकस्य स्वाध्यायस्य तव्यप्रत्ययं प्रति प्रकृत्यर्थादध्ययनादपि प्रत्यासन्नत्वात् स्वाध्यायगतमेव अपूर्वं तव्यप्रत्ययो वक्ति, अपूर्वस्य धात्वर्थजन्यत्वनियमेऽपि तदुपरक्तत्वा-नियमादिति भावः।

यच्चोक्तम् 'अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम्' इति, तदसत्, यतो मन्त्राणां स्वतन्त्रादृष्टशेषाणां तथात्वं युज्यते। इह तु स्वाध्यायाश्रितमदृष्टं; तस्य

धात्वर्थ रूप अध्ययन से सम्बद्ध अपूर्व (अदृष्ट) का ही प्रतिपादन करता है[1]। तब स्वाध्याय का संस्कृत होना कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हैं—

'तव्यप्रत्यय कर्म में होने वाले अदृष्ट का वाचक है'।

तव्यप्रत्यय के कर्मवाचक होने के कारण कर्मकारकभूत स्वाध्याय प्रकृत्यर्थभूत अध्ययन की अपेक्षा भी तव्यप्रत्यय के अधिक सन्निकट है। अत एव तव्यप्रत्यय स्वाध्याय में होने वाले अपूर्व को ही कहता है। यद्यपि यह नियम है कि अपूर्व धात्वर्थ से उत्पन्न होता है तथापि ऐसा नियम नहीं है कि अपूर्व धात्वर्थ से ही सम्बद्ध हो[2]।

और यह जो कहा गया है कि अन्य का अङ्ग अपने अर्थ में प्रमाण नहीं होता यह कहना युक्त नहीं क्योंकि यदि मन्त्र स्वतन्त्र अदृष्ट का शेष होते तो कैसे अर्थात् स्वार्थ में अप्रमाण होते। यहाँ तो अदृष्ट स्वाध्याय में आश्रित है।

---

१. पूर्वपक्षी का कहना है कि अध्ययन (गुरुमुखोच्चारणपूर्वकानूच्चारण) से उत्पन्न होने वाला संस्कार स्वाध्याय से सम्बद्ध नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि तव्यप्रत्यय अपूर्व (अदृष्ट) का अभिधायक है और तव्यप्रत्यय के द्वारा अभिहित अदृष्ट स्वाध्याय की अपेक्षा अध्ययन से अधिक सन्निकट है। जब अपूर्व को सम्बन्ध की आकांक्षा होती है तो वह उससे ही सम्बद्ध हो जायेगा जो उसके अधिक सन्निकट है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि-वाक्य को देखने से पता चलता है कि स्वाध्याय की अपेक्षा अध्ययन तव्य-प्रत्यय के अधिक सन्निकट है क्योंकि अध्ययन उसी (अध्येतव्यः) पद से उपात्त है जिससे तव्य। इसके विपरीत स्वाध्याय भिन्न पद से उपात्त है। अतएव तव्य प्रत्यय से अभिहित अदृष्ट (अपूर्व) अध्ययन से ही सम्बद्ध होगा, स्वाध्याय से नहीं। इस प्रकार सिद्धान्ती का यह कहना युक्त नहीं कि स्वाध्याय का संस्कार होता है।

२. इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' कर्म-वाच्य में है और तव्यप्रत्यय कर्मवाचक है। तव्यप्रत्यय का सम्बन्ध कर्म (स्वा-ध्याय) से है। तव्यप्रत्यय अध्ययन की अपेक्षा स्वाध्याय के अधिक सन्निकट

च स्वाध्यायगताक्षरसामर्थ्यसिद्धार्थावबोधे फले सति फलान्तरकल्पनायोगात् प्रामाण्यस्य उपबृंहकमेव अदृष्टं, न तु प्रतिबन्धकमित्याह—

'स्वतन्त्रादृष्टाशेषत्वान्न स्वार्थप्रमा प्रतिबध्यते' इति ।

सक्तुन्यायेन कर्मकारकप्राधान्ये परित्यक्ते स्वतन्त्रादृष्टमेव अत्रापि स्यादित्यत्राह—

स्वाध्यायगत अक्षरों की सामर्थ्य से सिद्ध अर्थज्ञान रूप फल के विद्यमान होने पर अन्य फल की कल्पना करना युक्त नहीं है, इसलिए अदृष्ट उस (मन्त्रों के स्वार्थ) में प्रामाण्य का पुष्टि करने वाला है, उसका प्रतिबन्धक नहीं है । जैसा कि सूत्र है—

'स्वतन्त्र अदृष्ट का शेष न होने से मन्त्रों की स्वार्थ में प्रमा का प्रतिबन्ध नहीं होता'[१] ।

है । अत एव तव्यप्रत्यय अधिपूर्वक इङ् धातु में होकर भी स्वाध्यायनिष्ठ अदृष्ट का वाचक है । यह नियम सर्वसम्मत है कि अपूर्व धात्वर्थ से ही उत्पन्न होता है परन्तु ऐसा नियम नहीं है कि वह धात्वर्थ से ही सम्बद्ध होता है । यहाँ पर भी अध्ययन (धात्वर्थ) से अदृष्ट को उत्पत्ति होती है किंतु वह स्वाध्याय में होता है । यह दिखलाने के लिए कि अपूर्व का धात्वर्थ से ही सम्बन्ध नहीं होता है हम एक दूसरा विधि-वाक्य प्रस्तुत करते हैं—'व्रीहीन् प्रोक्षति' । इस वाक्य में 'व्रीहि' कर्म होने के कारण प्रधान (अङ्गी) है और प्रोक्षण उसका अङ्ग है जिससे वाक्यार्थ हुआ 'प्रोक्षणेन व्रीहीन संस्कुर्यात्' । यहाँ पर हम देखते हैं कि प्रोक्षण (धात्वर्थ) के द्वारा व्रीहि को संस्कारयुक्त किया जाता है । अतः 'ति' प्रत्यय से अभिहित एवं प्रोक्षण से उत्पन्न अदृष्ट का सम्बन्ध व्रीहि से होता है, प्रोक्षण से नहीं यद्यपि 'ति' और प्रोक्षण एक पद से उपात्त हैं ।

१. पूर्वपक्षी ने कहा था कि जिस प्रकार विष उतारने के मन्त्र विष उतारने के कार्य में विनियुक्त होने से अपने अर्थ में प्रमाण नहीं होते, उसी प्रकार वेद के मन्त्र भी अध्ययन-क्रिया के अङ्ग होने से अपने अर्थ में प्रमाण नहीं हो सकते । इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि यदि मन्त्र किसी अन्य स्वतन्त्र अदृष्ट का अङ्ग होता तो उनका स्वार्थ में प्रामाण्य न होता । यहाँ पर तो अध्ययन से जो अदृष्ट उत्पन्न होता है वह मन्त्रसमुदायरूप स्वाध्याय के ही आश्रित है अदृष्ट स्वयं मन्त्रों (स्वाध्याय) के आश्रित हैं, तब मन्त्र इस अदृष्ट के अङ्ग कैसे हो सकते हैं ? इसके अतिरिक्त स्वाध्यायगत अक्षरों की सामर्थ्य से अर्थज्ञान रूप फल सिद्ध होता है, इसलिए इस दृष्ट फल के सिद्ध होने

'यथाश्रुतोपपत्तेर्न सक्तुन्यायः' इति।

सक्तुषु गत्यभावात् श्रुतं परित्यज्य अश्रुतं कल्प्यतां नाम। नेह तद् युक्तं, प्रदर्शितत्वादित्यर्थः।

शंका है कि सक्तुन्याय से कर्मकारक के प्राधान्य का परित्याग करने पर यहाँ पर भी स्वतन्त्र अदृष्ट हो जायेगा', इसका उत्तर देते हैं—

'श्रुत के उपपन्न होने पर सक्तुन्याय यहाँ उचित नहीं है'

सक्तुओं के सम्बन्ध में कोई गति न होने से श्रुत को छोड़कर अश्रुत की कल्पना उचित है। यहाँ पर वह (श्रुत को छोड़कर अश्रुत की कल्पना) युक्त नहीं, जैसा कि हम दिखला चुके हैं।

पर इन मन्त्रों का कोई अन्य फल नहीं माना जा सकता है। स्वाध्याय के आश्रित जो अदृष्ट है वह तो मन्त्रों (स्वाध्याय) के अपने अर्थ की पुष्टि ही करता है, उसमें प्रतिबन्ध उत्पन्न नहीं करता।

१. शंका का आशय यह है कि 'सक्तूञ्जुहोति' इस वाक्य की तरह 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में कर्मकारक की प्रधानता को छोड़कर इसे करणकारक में परिणत करने से 'स्वाध्यायेन अधीयीत' यह रूप बन जाता है और ऐसा होने पर अध्ययन से उत्पन्न होने वाला अदृष्ट स्वाध्याय के आश्रित न होकर स्वतन्त्र अदृष्ट हो जायेगा। ऐसी अवस्था में ज्योतिष्टोम आदि मन्त्र इस स्वतन्त्र अदृष्ट का अङ्ग बन जायेंगे और स्वतन्त्र अदृष्ट (अन्य) का अङ्ग होने से वे अपने अर्थ में अप्रमाण हो जायेंगे।

इस शंका का समाधान करते हुए सिद्धान्ती का कहना है कि 'सक्तून् जुहोति' इस वाक्य में कोई गति न होने के कारण हम 'सक्तून्' को 'सक्तुभिः' में परिणत कर लेते हैं क्योंकि संस्कृत करने पर सक्तु राख बन जाते हैं और उनका उत्तर क्रतु में कोई विनियोग नहीं हो सकता किंतु 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।' में हम 'स्वाध्यायः' को 'स्वाध्यायेन' में परिणत नहीं कर सकते क्योंकि श्रुत को छोड़कर अश्रुत की कल्पना करना एक दोष है और हम ऐसा तभी कर सकते हैं जब कोई अन्य गति न हो। यहाँ पर तो श्रुत अर्थ ठीक बैठता है 'अध्ययनेन स्वाध्यायं प्राप्नुयात्' अथवा 'अध्ययनेन स्वाध्यायं संस्कुर्यात्' और हम ऊपर यह भलीभाँति स्पष्ट कर चुके है कि अध्ययन का दृष्ट फल—अक्षरप्राप्ति और संस्कार है। इसलिए ज्योतिष्टोम आदि वाक्य स्वतन्त्र अदृष्ट का अङ्ग नहीं हो सकते जिसके परिणामस्वरूप उनका अपने अर्थज्ञान में प्रामाण्य है। और इस प्रकार अक्षर-प्राप्ति अर्थज्ञान का कारण होने से पुरुषार्थ (अभिलषित पदार्थ) है। इस प्रकार सिद्ध हो गया कि संस्कार और अक्षर-प्राप्ति अध्ययन के फल हैं जिससे यह स्पष्ट गया कि अध्ययन का दृष्ट फल है।

इत्थमध्ययनविधेर्दृष्टार्थत्वं प्रसाध्य अर्थावबोधपर्यन्ततां निराकर्तुं पूर्वपक्षयति।

'वैधमर्थनिर्णयं भट्टगुरू विधेः पुमर्थावसानात्' इति।

सर्वत्र विधेः पुरुषार्थपर्यवसायित्वनियमाद् अत्रापि पुरुषार्थभूतं फलवदर्थनिश्चयमध्ययनविधिप्रयुक्तं भट्टगुरू मन्येते।

इस प्रकार अध्ययनविधि को दृष्ट प्रयोजन के लिए सिद्ध करके उस विधि की अर्थज्ञानपर्यन्तता के निराकरण के लिए पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—

पूर्वपक्ष—अध्ययन विधि का क्षेत्र अर्थ-ज्ञान पर्यन्त है।

'विधि का पुरुषार्थ में पर्यवसान होने से अर्थ-निर्णय विधि से विहित है- ऐसा भट्ट और गुरु का मत है'।

सर्वत्र विधि का किसी न किसी पुरुषार्थ में पर्यवसान होता है, यह नियम होने से यहाँ पर भी पुरुषार्थभूत फलयुक्त अर्थ-निश्चय अध्ययनविधि से विहित है'—यह कुमारिल भट्ट और प्रभाकर गुरु मानते हैं।

---

१. 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन-विधि के विषय में दो प्रकार के मत हैं। कुछ लोगों के मतानुसार यह अध्ययन-विधि अक्षरग्रहणमात्रपर्यवसायी है अर्थात् इस विधि का पर्यवसान केवल अक्षर-ग्रहण में हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इन लोगों के अनुसार वेद के अक्षरों के ग्रहण-मात्र से अध्ययन सम्पन्न हो जाता है और अक्षरों को ग्रहण करके हम वेद की उस आज्ञा का पालन सर्वांश में कर देते हैं जिसको 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में दिया गया है। इस प्रकार 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में केवल अक्षर-प्राप्ति का विधान किया गया है।

इसके विपरीत अन्य लोगों का मत है कि इस विधि-वाक्य में अर्थज्ञान रूप प्रयोजन के लिए अध्ययन का विधान किया गया है। यह विधि-वाक्य अक्षर-प्राप्ति के माध्यम से अर्थज्ञान का विधान करता है। इन लोगों का कहना है कि प्रत्येक विधि का पर्यवसान किसी न किसी पुरुषार्थ में होता है। ऐसा न होने पर विधि-वाक्य व्यर्थ हो जायेगा। अध्ययन-विधायक वाक्य को अक्षर-प्राप्ति तक सीमित नहीं रखा जा सकता है क्योंकि अक्षर-प्राप्ति स्वयं पुरुषार्थ (अभिलषित पदार्थ) नहीं है। अतएव अध्ययन-विधि का पर्यवसान अक्षर-प्राप्ति में नहीं माना जा सकता। तात्पर्य यह है कि यह विधि केवल अक्षर-प्राप्ति का ही विधान नहीं करती है अपितु अक्षर-प्राप्ति के माध्यम से अर्थज्ञान का विधान करती है। इस मत के अनुसार केवल अक्षरों को प्राप्त कर लेने से अध्ययन सम्पन्न नहीं हो जाता अपितु अध्ययन को सम्पन्न करने के लिए हमें वेद के अक्षरों की प्राप्ति करके वेद के मन्त्रों का अर्थज्ञान भी करना चाहिए। ऐसा करने पर ही हम वेद की आज्ञा का सर्वांश में पालन करते हैं।

ननु सकृदध्ययनाद् आवृत्तिसहिताद् वार्थनिश्चयो नोपलभ्यते इत्याशङ्क्य, तथा सति तत्सिद्धये सोऽध्ययनविधिरर्थनिश्चयहेतुं विचारं कल्पयिष्यति इत्याह—

'स विचारमाक्षिपेत्' इति।

ननु स्वविधेयतदुपकारिणोरेव विधिः प्रयोजक इति सर्वत्र नियमः, तथा सति, अतादृशं कथमत्र अध्ययनविधिराक्षेप्स्यतीत्याह—

'अविधेयानुपकार्याक्षेपोऽवघातावृत्तिवत्' इति।

किन्तु एक बार या आवृत्तिसहित अध्ययन करने से अर्थनिश्चय की प्राप्ति नही होती है[1], ऐसी शंका करके कहते हैं कि उस (अर्थ) की सिद्धि के लिए वह अध्ययन-विधि अर्थ-निश्चय के हेतुभूत विचार अर्थात् मीमांसा–शास्त्र को कल्पित कर ले—

'वह विचार का आक्षेप कर ले'।

शंका होती है कि विधि अपने विधेय (अपने द्वारा विहित) और उस (विधेय) के उपकारक का ही प्रयोजक होती है[2], ऐसा सर्वत्र नियम है। ऐसी स्थिति में अध्ययन-विधि अतादृश विचार का कैसे आक्षेप कर लेगी? उत्तर देते हैं—

'विधि अविधेय और उपकार न करने वाले का भी आक्षेप कर लेती है, अवघात की आवृत्ति की तरह'।

पुरुषार्थानुशासनकार आदि (सिद्धान्ती) पहले मत का अनुसरण करते हैं। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर गुरु आदि (पूर्वपक्षी) दूसरे मत का अनुसरण करते हैं।

१. शंका का आशय यह है कि अध्ययन अर्थज्ञान के लिए नहीं हो सकता क्योंकि एक बार या अनेक बार भी अध्ययन करने पर अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। यदि अध्ययन का फल अर्थज्ञान होता तो अध्ययन करने पर उस अर्थज्ञान की प्राप्ति होती। क्रिया करने पर उसका फल अवश्य ही होता है जैसे कि भोजन करने पर तृप्ति अवश्य होती है। यतः अध्ययन करने के उपरान्त भी अर्थज्ञान नहीं होता, अतः अध्ययन का फल अर्थज्ञान नहीं हो सकता।

इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना है कि ऐसी स्थिति में अर्थ की सिद्धि के लिए अध्ययन-विधि विचारशास्त्र अर्थात् मीमांसा शास्त्र का आक्षेप कर लेगी। मीमांसा शास्त्र से अर्थ का निश्चय (ज्ञान) हो जायेगा।

२. शंका का आशय है कि सर्वत्र यह नियम है कि विधि-वाक्य अपने द्वारा विहित वस्तु (विधेय) अथवा अपने द्वारा विहित वस्तु का उपकार करने वाली वस्तु की ओर ही हमको प्रेरित कर सकती है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह विधि'

'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यत्र अवघातमात्रं विधेयं न तु तदावृत्तिः, तस्या अधात्वर्थत्वात्। नापि सा विधेयोपकारिणी, अन्तरेण आवृत्तिं सकृन्मुसलघातमात्रादवघातसिद्धेः तथापि तण्डुलनिष्पत्तिफलसिद्धये स विधिरावृत्तिं यद्वद् आचिक्षेप तद्वत् प्रकृतेऽपि अवगन्तव्यम्।

ननु वेदमात्राध्यायिनोऽर्थविबोधानुदयेऽपि व्याकरणाद्यङ्गसहितवेदाध्यायिनस्तदुदयसद्भावात् तं प्रति व्यर्थं विचारं विधिर्न कल्पयेदित्या-

---

'व्रीहीन् अवहन्ति' में केवल अवघात विधेय है, उसकी आवृत्ति विधेय नहीं है क्योंकि वह धात्वर्थ नहीं है। और वह विधेय का उपकार करने वाली भी नहीं है क्योंकि आवृत्ति के बिना एक बार मूसल के घातमात्र से अवघात की सिद्धि हो जाती है। तथापि तण्डुल की निष्पत्ति रूप फल की सिद्धि के लिए उस विधि ने जिस प्रकार आवृत्ति का आक्षेप कर लिया, उसी प्रकार प्रकृत में भी जानना चाहिए।

शंका है कि वेदमात्र का अध्ययन करने वाले व्यक्ति को अर्थज्ञान न होने पर भी व्याकरण आदि अङ्गों के सहित वेद का अध्ययन करने वाले व्यक्ति

न तो विचार (मीमांसा-शास्त्र) का विधान कर रही है और न विचार इस विधि से विहित अध्ययन का उपकारक है। ऐसी अवस्था में यह अध्ययन-विधि विचार का आक्षेप कैसे कर सकती है ?

इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि यह नियम सर्वत्र नहीं लगता। उदाहरण के लिए 'व्रीहीन् अवहन्ति' इस वाक्य को लेते हैं। इस विधि-वाक्य में केवल अवघात का विधान किया गया है। अवघात की आवृत्ति (कई बार अवघात करना) का यहाँ विधान नहीं किया गया है। धात्वर्थ का ही विधान होता है। धात्वर्थ तो अवहनन है, उसकी आवृत्ति नहीं। विधेय अवहनन का कोई उपकार भी आवृत्ति से नहीं हो रहा है क्योंकि आवृत्ति के बिना एक बार मूसल के घातमात्र से अवहनन की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार यद्यपि आवृत्ति न तो यहाँ विधेय है और न विधेय का उपकार करने वाली है तथापि यह विधि आवृत्ति का आक्षेप करती है क्योंकि आवृत्ति के बिना तण्डुल की निष्पत्ति रूप फल की सिद्धि नहीं होती है। इस फल की सिद्धि के लिए ही यह विधि आवृत्ति का आक्षेप करती है। उसी प्रकार अध्ययन का फल है अर्थ-निश्चय किन्तु जब एक बार अथवा अनेक बार भी अध्ययन करने पर अर्थ निश्चय की प्राप्ति नहीं होती तो अर्थज्ञान की सिद्धि के लिए अध्ययन-विधायक विधि मीमांसा-शास्त्र का आक्षेप कर लेगी। मीमांसा-शास्त्र की सहायता से अर्थ-निश्चय हो जायेगा।

शङ्क्य अर्थगतविरोधपरिहाराय अपेक्षित एव विचार इत्याह—

'साङ्गाध्ययनात् तद्भावे विचारोऽर्थविरोधापनुत्' इति।

को अर्थज्ञान हो जाता है, इसलिए उस व्यक्ति के प्रति व्यर्थ हुए विचार (मीमांसाशास्त्र) का आक्षेप विधि नहीं करेगी। इस पर कहते हैं कि अर्थगत विरोध के परिहार के लिए विचार अपेक्षित ही है—

'साङ्ग अध्ययन से उस (अर्थज्ञान) के हो जाने पर विचार (मीमांसा-शास्त्र) अर्थों में विरोध का निवारक है'।

---

१. पूर्वपक्षी ने कहा था कि अर्थज्ञान की सिद्धि के लिए मीमांसा-शास्त्र की आवश्यकता है। इस पर शङ्का है कि जो व्यक्ति केवल वेद का अध्ययन करता है उसे तो अर्थज्ञान नहीं होता है किंतु जो व्यक्ति व्याकरण आदि छः अङ्गों के साथ वेद का अध्ययन करता है उसे तो वेद के अर्थ का ज्ञान हो जाता है, अतः उसको अर्थज्ञान कराने के लिए मीमांसा-शास्त्र की आवश्यकता नहीं। जो व्यक्ति वेद के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है वह अङ्गों सहित वेद को पढ़े, उसे मीमांसा-शास्त्र पढ़ने की क्या आवश्यकता है। जो मीमांसा-शास्त्र सबके लिए अपेक्षित नहीं है, जिसके बिना अर्थज्ञान हो सकता है, ऐसे मीमांसा-शास्त्र का आक्षेप अध्ययन-विधि कैसे कर सकती है ?

इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना है कि व्याकरण आदि अङ्ग के सहित वेद का अध्ययन करने पर अर्थज्ञान के संभव होने पर भी विचार-शास्त्र की महती आवश्यकता है। वेद के अर्थ में प्रतीयमान विरोध के परिहार के लिए विचार-शास्त्र अपेक्षित है। 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' यहाँ पर शर्करा को घृत के द्वारा ही भिगोया जाता है, तैलादि के द्वारा नहीं, यह निर्णय व्याकरण, निरुक्त और निगम के द्वारा नहीं किया जा सकता है किंतु विचारशास्त्र तो 'तेजो वै घृतम्' इस वाक्यशेष से निर्णय कर देता है। जो व्यक्ति अर्थावबोध के लिए व्याकरण, निरुक्त आदि अङ्गों का अध्ययन करता है किंतु विचार-शास्त्र के ज्ञान से रहित है, वह वेदरूप वाणी को सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। जैसे, 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्' इस विधि में प्रयुक्त 'प्रतिगृह्णीयात्' इस शब्द का अर्थ 'ग्रहण करे' नहीं है, अपितु 'प्रतिग्रह कराये' अर्थात् 'दान दे' है। इस अर्थ का निर्णय मीमांसा-शास्त्र की सहायता से होता है। इसलिए विरोधों के परिहार के लिए मीमांसा-शास्त्र अपेक्षित है। वह किसी के भी प्रति व्यर्थ नहीं है। अतः 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययन-विधि विचार-शास्त्र का भी प्रयोजक है।

सिद्धान्तयति—

'प्राप्तेस्तु गवादिवत् पुमर्थत्वाद् विधिस्तदन्तः' इति।

यथा फलभूतस्य क्षीरादेर्हेतवो गवादयोऽपि पुरुषैरर्थ्यन्ते, तथा फलवदर्थावबोधहेतोरक्षरप्राप्तेरपि पुरुषार्थत्वात् अध्ययनविधिरक्षरप्राप्त्यवसानोऽत्रगन्तव्यः।

अब सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं--

सिद्धान्त—अध्ययनविधि का क्षेत्र अक्षरप्राप्ति तक ही सीमित है।

'गौ आदि की तरह प्राप्ति के पुरुषार्थ होने से विधि तदन्त है'[1]।

जैसे फलभूत क्षीर आदि के हेतु गौ आदि पुरुषों के द्वारा अर्थित होते हैं, उसी प्रकार फलयुक्त अर्थावबोध के हेतु अक्षर-प्राप्ति के भी पुरुषार्थ होने से अध्ययन-विधि को अक्षर-प्राप्ति तक ही जानना चाहिए।

यदि अक्षर-प्राप्ति का पुरुषार्थत्व फलयुक्त अर्थावबोध से प्रयुक्त है, तो उस अर्थावबोध के मुख्य पुरुषार्थ होने से बोध के अन्त तक ही विधि को क्यों न माना जाय[2], ऐसी शंका करके कहते हैं—

---

१. पूर्वपक्षी का कहना था कि अक्षर-प्राप्ति स्वयं पुरुषार्थ नहीं है जबकि अर्थज्ञान स्वयं पुरुषार्थ है क्योंकि अर्थ-ज्ञान के अनन्तर पुरुष कर्मानुष्ठान करके स्वर्ग आदि अभीष्ट को प्राप्त कर सकता है और नियम यह है कि प्रत्येक विधि का पर्यवसान पुरुषार्थ में होता है, अतः अध्ययन विधि को अक्षर-प्राप्ति तक सीमित नहीं माना जा सकता है। इस पर सिद्धान्त पक्ष का कहना है कि अक्षर-प्राप्ति भी असाक्षात् रूप से पुरुषार्थ है। जिस प्रकार क्षीर आदि फल की प्राप्ति के लिए गौ आदि भी पुरुषों के अभीष्ट होते हैं, उसी प्रकार अर्थज्ञान रूप फल के लिए अक्षर-प्राप्ति भी पुरुषों को अभीष्ट है। इस प्रकार अर्थज्ञान का हेतु होने से अक्षर-प्राप्ति भी पुरुषार्थ (अभिलषित पदार्थ) है और अध्ययन-विधि इस पुरुषार्थ तक ही सीमित है।

२. ऊपर सिद्धान्ती ने कहा है कि अर्थज्ञान का हेतु होने से अक्षर-प्राप्ति भी पुरुषार्थ है। इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि यदि अर्थज्ञान का हेतु होने के कारण ही अक्षर-प्राप्ति को पुरुषार्थ मानते हैं तो अक्षर प्राप्ति गौण है और अर्थज्ञान मुख्य है। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर अध्ययन-विधि को मुख्य पुरुषार्थभूत अर्थज्ञान पर्यन्त मानना अधिक संगत है।

'फलवद्बोधान्तत्वेऽध्ययनाकात्स्न्यम्' इति ।

बोधस्य हि फलं कर्मानुष्ठानम् । तथा सति यस्य ब्राह्मणादेर्यस्मिन् बृहस्पतिसवादौ अधिकारस्तस्य तद्वाक्यमात्राध्ययनं स्यात्, न तु राजसूयादिवाक्याध्ययनम्, तत्र प्रवृत्त्यादिफलभावात् ।

'स्वपक्षे तु नायं दोष इत्याह—

'कृत्स्नप्राप्तिर्जपार्था' इति ।

'फलयुक्त बोध के अन्त तक मानने पर अध्ययन की असमग्रता हो जायेगी' ।

बोध का फल कर्मानुष्ठान है । ऐसी स्थिति में जिस ब्राह्मण आदि का जिस बृहस्पतिसवादि में अधिकार है वह उसी वाक्यमात्र का अध्ययन करेगा, राजसूय आदि वाक्य का अध्ययन नहीं करेगा क्योंकि वहाँ प्रवृत्ति आदि का उसे फल नहीं मिलेगा ।

अपने पक्ष में तो यह दोष नहीं है, यह कहते हैं—

'जप के लिए समस्त वेद की प्राप्ति करनी है' ।

विधि को अर्थज्ञान का अबोधक मानने पर तो अर्थावबोध ही सिद्ध नहीं होगा[1], यह शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह प्रमाण का स्वभाव है कि वह

इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि अध्ययन-विधि को फलयुक्त अर्थज्ञान पर्यन्त माना जा सकता था किंतु ऐसा मानने पर एक बड़ी भारी हानि हो जायेगी और वह यह कि कोई भी व्यक्ति समग्र वेद का अध्ययन नहीं करेगा । वैसा मानने पर तो सब लोग फल को दृष्टि में रखकर वेद का अध्ययन करेंगे । जिस ब्राह्मणादि का अधिकार जिस बृहस्पतिसवादि कर्म के अनुष्ठान करने में होगा वह ब्राह्मणादि उसी कर्मानुष्ठान से सम्बद्ध वेद का अध्ययन करेगा क्योंकि उसके अनुष्ठान करने से उसको फल मिलेगा । वह राजसूय आदि कर्मों से सम्बद्ध वेद का अध्ययन नहीं करेगा क्योंकि उसमें उसका अधिकार नहीं है जिसके परिणामस्वरूप उसके अनुष्ठान करने से उसे कोई फल नहीं मिलेगा । इसके विपरीत अध्ययन-विधायक वाक्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' को यदि अक्षर-प्राप्ति तक ही सीमित रखा जाय तो अध्ययन को सम्पन्न करने के लिए व्यक्ति को सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना होगा और सम्पूर्ण वेद का अध्ययन ब्रह्मयज्ञजप के लिए आवश्यक है । इसलिए सम्पूर्ण वेद का अध्ययन हो, इस दृष्टि से हमें अध्ययनविधि को अक्षर-प्राप्ति तक ही सीमित मानना चाहिए ।

१. यहाँ यह शंका होती है कि यदि अध्ययन-विधि को अक्षर-प्राप्ति तक ही सीमित मान लिया जाय और यह अर्थज्ञान की प्रयोजक न हो तब अर्थज्ञान

न च अबोधकत्वे अर्थावबोध एव न सिध्येदिति शङ्कनीयम्, प्रमाणस्य प्रमेयबोधकत्वस्वाभाव्यात्, लौकिकाप्तवाक्यानामन्तरेणैव विधिं बोधकत्वदर्शनादित्याह—

'लोकवन्नैजो बोधः' इति।

ननु बोधस्य विधिफलत्वे बोधकाममुद्दिश्य विधातुं शक्यत्वात् सुलभोऽधिकारी स्यादित्याशङ्क्य, प्राप्तिपक्षेऽपि प्राप्तिकाम उपनीताष्टवर्ष-ब्राह्मणोऽत्राधिकारी सुलभ एव इति परिहारं स्पष्टत्वादुपेक्ष्य बोधस्य काम्यत्वं दूषयति—

'सोऽकाम्यः प्राग्बोध्यभानाभानयोः' इति।

प्रमेय का बोधक होता है जैसे कि लौकिक आप्त वाक्य बिना किसी विधि के अर्थ के बोधक होते हैं—

'लोक की तरह बोध स्वाभाविक है'।

अर्थज्ञान को विधि का फल मान लेने पर अर्थज्ञान की इच्छा करने वाले को उद्देश्य करके विधान किये जाने से अधिकारी सुलभ हो जाता है, यह शंका करके उत्तर देते हैं कि प्राप्ति के पक्ष में भी प्राप्ति की इच्छा करनेवाला उपनीत आठ वर्ष का ब्राह्मण अध्ययन करने के लिए अधिकारी सुलभ ही है[1]।

की सिद्धि नहीं होगी—वेद के मन्त्रों का अर्थ ही नहीं होगा। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि ऐसी बात नहीं है। यह नियम है कि प्रमाण प्रमेय (ज्ञान) का बोधक होता है। वेद का शब्द भी प्रमाण है और वह अर्थज्ञान अवश्य करायेगा। जिस प्रकार लोक में प्रयुक्त होने वाले वाक्य बिना किसी विधि के ही अपने अर्थ के बोधक होते हैं, उसी प्रकार वैदिक वाक्य स्वभावतः अपने अर्थ के बोधक होते हैं (अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः)। इसलिए अध्ययन-विधि को अक्षर-प्राप्ति पर्यन्त ही मानना चाहिए, उसे अर्थज्ञान पर्यन्त मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

१. पूर्वपक्षी का कहना है कि यदि अर्थज्ञान को अध्ययन का फल मानते हैं तो एक बड़ा भारी लाभ यह होगा कि बोध की कामना करने वाले व्यक्ति को उद्दिष्ट करके अध्ययन का विधान बन जाता है जिसके परिणामस्वरूप अधिकारी सुलभ हो जाता है। वेद का अर्थ जानने की इच्छा से अनेक व्यक्ति वेद का अध्ययन करेंगे। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि अध्ययन को अक्षर-प्राप्ति के लिए मानने पर भी वेद का अधिकारी सुलभ ही है। अक्षर-प्राप्ति के इच्छुक उपनीत आठ वर्ष के अनेक ब्राह्मण बालक वेद का अध्ययन करेंगे। इसलिए अध्ययन अक्षर-प्राप्ति के लिए ही विहित है, अर्थज्ञान के लिए नहीं।

बोध्यस्य अग्निहोत्रादिलक्षणवेदार्थस्य अध्ययनात् प्राक् संध्योपासनादिवत् पित्राद्युपदेशत एव भाने सिद्धत्वादेव सोऽर्थबोधो न काम्यः। अभाने कामयितुमशक्यः, ज्ञाते एव विषये कामनानियमात्।

ननु सामान्यतो ज्ञाते विशेषतो बुभुत्सा संभवति। यद्वा विशेषतोऽपि पित्राद्युपदेशात् अवगते सति औपदेशिकज्ञानस्य प्रामाण्यनिर्णयाय पुनर्बोधकामना युक्तैव इत्याशङ्क्य, एवमपि अर्थावबोधमुद्दिश्य अध्ययनविधानं न संभवति इत्याह—

'उद्देशायोगात्' इति।

इस परिहार के स्पष्ट होने से इसकी उपेक्षा करके अर्थज्ञान के काम्य (कामना का विषय) होने की बात को दोषयुक्त बतलाते हैं—

'वह कामना का विषय नहीं, चाहे वह पहले ज्ञात हो और चाहे पहले से ज्ञात न हो'।

बोध्य अर्थात् अग्निहोत्रादि रूप वेदार्थ के अध्ययन से पहले संध्योपासना आदि की तरह पिता आदि के उपदेश से ही ज्ञात होने पर उसके सिद्ध होने से वह अर्थबोध कामना का विषय नहीं हो सकता। और यदि उसे अज्ञात मानते हैं तो उसकी कामना नहीं की जा सकती है क्योंकि नियम ऐसा है कि ज्ञात ही विषय में कामना हो सकती है[1]।

किंतु सामान्य रूप से ज्ञान होने पर विशेष रूप से ज्ञान करने की इच्छा होती है। अथवा विशेष रूप से पिता आदि के उपदेश में ज्ञान होने पर भी उस उपदेश से प्राप्त ज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय करने के लिए पुनः बोध की इच्छा

---

१. ऊपर पूर्वपक्षी ने कहा था कि अध्ययन को अर्थज्ञान के लिए मानने पर अर्थज्ञान की कामना करने वाला अधिकारी सुलभ हो जायेगा। इस बात का उत्तर सिद्धान्ती पहले ही दे चुके हैं। अब सिद्धान्ती का कहना है कि अर्थज्ञान तो कामना का विषय हो ही नहीं सकता। यदि कोई मानता है कि अग्निहोत्रादिरूप वेदार्थ का ज्ञान माणवक को अध्ययन से पहले से ही पिता आदि से उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार उसे संध्योपासना का ज्ञान होता है तब तो अर्थज्ञान कामना का विषय नहीं हो सकता है क्योंकि जो अर्थज्ञान पहले से ही ज्ञात है उसके विषय में कामना नहीं हो सकती। यदि कोई मानता है कि अग्निहोत्रादिरूप वेदार्थ का ज्ञान माणवक को पहले नहीं होता तब भी वेदार्थ का ज्ञान कामना का विषय नहीं हो सकता है क्योंकि जो वस्तु हमें ज्ञात नहीं उसके लिए हम कामना ही नहीं कर सकते। अस्तु, दोनों ही अवस्थाओं में अर्थज्ञान कामना का विषय नहीं हो सकता।

अग्निहोत्रादिविशेषज्ञानानां न तावदेकबुद्ध्या विशेषाकारेण उद्देशः संभवति, अनन्तत्वात्। सामान्याकारेण उद्देशे सामान्यमेव विधिफलं स्यात्, न तु ज्ञानविशेषः। ततो नोद्देशो युक्तः।

ननु अर्थावबोधमुद्दिश्य उच्चारणाभावे वेदस्य स्वार्थे तात्पर्यं न स्यादित्याशङ्क्य उपक्रमादिलिङ्गगम्यं तात्पर्यं शब्दबलादेव सिध्यति इत्याह—

युक्त ही है', यह शंका करके कहते हैं कि ऐसा होने पर भी अर्थज्ञान को उद्दिष्ट करके अध्ययन का विधान संभव नहीं है—

'उद्देश युक्त नहीं है'।

एक बुद्धि के द्वारा अग्निहोत्र आदि विशेष ज्ञानों का विशेषरूपेण उद्देश संभव नहीं है, क्योंकि विशेष ज्ञान अनन्त हैं। सामान्यरूपेण उद्देश किये जाने पर तो विधि का फल सामान्य ही होगा, विशेष ज्ञान नहीं। इसलिए

---

१. ऊपर सिद्धान्ती ने युक्तिपूर्वक कहा है कि अर्थज्ञान कामना का विषय नहीं हो सकता, चाहे वह पहले से ज्ञात हो और चाहे पहले से अज्ञात हो। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि यह युक्ति ठीक नहीं है। ज्ञात होने पर भी कोई पदार्थ कामना का विषय हो सकता है। किसी पदार्थ का ज्ञान हमें दो प्रकार से हो सकता है—या तो हमें उस पदार्थ का सामान्य रूप से ज्ञान हो या विशेष रूप से ज्ञान हो। दोनों ही अवस्थाओं में वह कामना का विषय हो सकता है। किसी पदार्थ के सामान्य रूप से ज्ञात होने पर हमें कामना होती है कि हम उस पदार्थ को विशेष रूप से जानें। उदाहरण के लिए जब किसी व्यक्ति को सामान्य रूप से यह ज्ञान होता है कि भारत से अत्यधिक दूर एक अमेरिका नाम का देश है जहाँ के निवासी अत्यन्त समृद्ध हैं, तब उस व्यक्ति को उस देश और वहाँ के निवासियों के विषय में विस्तारपूर्वक विशेष रूप से जानने की कामना होती है। उसी प्रकार प्रकृत में जब किसी व्यक्ति को यह ज्ञान होता है कि वेद में धर्म अर्थात् याग का प्रतिपादन किया गया है, तब उस व्यक्ति को यह जानने की कामना होती है कि वेद में किन-किन यागों का विधान किया गया है, उनका क्या फल है और उनका अनुष्ठान कैसे किया जाता है। दूसरे शब्दों में इस बात को इस प्रकार कह सकते हैं कि वेदार्थ का सामान्य ज्ञान होने पर व्यक्ति को उसके विशेष ज्ञान की कामना होती है। विशेष रूप से पिता आदि के उपदेश से ज्ञान होने पर भी उस उपदेश से प्राप्त ज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय करने के लिए पुनः ज्ञान की कामना होती है। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति के पिता जी ने अमेरिका देश का भ्रमण

'तात्पर्यं शब्दात्' इति ।

उद्देश युक्त नहीं ।[1]

अर्थज्ञान को उद्देश्य करके उच्चारण न मानने पर तो वेद का अपने अर्थ में तात्पर्य ही नहीं होगा,[2] ऐसी शङ्का करके कहते हैं कि उपक्रम आदि लिङ्गों से ज्ञात होने वाला तात्पर्य शब्द के बल से ही सिद्ध हो जाता है, जैसा कि सूत्र है—

'शब्द के बल से तात्पर्य हो जाता है' ।

किया है तो वह व्यक्ति अपने पिता जी से उस देश के विषय में विस्तारपूर्वक विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेता है अथवा अपने भूगोल के अध्यापक से उस देश का विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस विशेष ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर यह स्वाभाविक है कि उस व्यक्ति को यह कामना होती है कि वह अपने पिता जी अथवा अध्यापक से प्राप्त ज्ञान को यथार्थता को जानने के लिए स्वयं भी उस देश का भ्रमण करे। उसी प्रकार प्रकृत में भी जब किसी व्यक्ति को अपने पिताजी आदि से अग्निहोत्र आदि यागों का विस्तारपूर्वक विशेष ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब उस व्यक्ति को यह कामना होती है कि वह व्यक्ति स्वयं अर्थ की दृष्टि से वेद का अध्ययन करे और देखे कि पिता जी आदि के उपदेश से प्राप्त विशेष ज्ञान कहाँ तक यथार्थ है। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने यह सिद्ध कर दिया कि अर्थज्ञान कामना का विषय हो सकता है। ध्यान रखने की बात है कि पूर्वपक्षी ने सिद्धान्ती की दूसरी युक्ति का खण्डन नहीं किया है अर्थात् सिद्धान्ती ने जो कहा था कि अज्ञात विषय कामना का विषय नहीं हो सकता, इसके विषय में पूर्वपक्षी ने कुछ नहीं कहा है। पहली युक्ति के ही दो विभाग कर पूर्वपक्षी ने उसका खण्डन किया है।

१. पूर्वपक्षी के द्वारा किये गये खण्डन को स्वीकार करते हुए सिद्धान्ती का कहना है कि ऐसा होने पर भी अर्थज्ञान को उद्देश्य करके अध्ययन का विधान बन नहीं सकता। एक विधि-वाक्य में एक फल को ही उद्दिष्ट करके एक क्रिया का विधान किया जाता है। उदाहरण के लिए, 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधिवाक्य में स्वर्ग को उद्दिष्ट करके ज्योतिष्टोम याग का विधान किया गया है। इसी प्रकार इन विधि-वाक्यों में भी एक-एक ही उद्देश्य है-अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, व्रीहीन् अवहन्ति, उद्भिदा यजेत पशुकामः आदि। इसी प्रकार 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिवाक्य में भी एक ही वस्तु को उद्दिष्ट करके अध्ययन का विधान बन सकता है। विशेष ज्ञानों को उद्दिष्ट करके अध्ययन का विधान नहीं बन सकता क्योंकि विशेष ज्ञानों का अन्त नहीं और वे विशेष ज्ञान परस्पर स्वतन्त्र हैं। उदाहरण के लिए

तर्हि अर्थज्ञानमुद्दिश्य शब्दोच्चारणं लोके व्यर्थं स्याद् इति चेद् न; पुरुषसंबन्धकृतदोषाख्यप्रतिबन्धपरिहारार्थत्वाद् इत्याह—

'उद्दिश्य उच्चारणं दोषघ्नं लोके' इति ।

यदि कोई कहे कि तब तो अर्थज्ञान को उद्‌देश्य करके शब्द का उच्चारण करना लोक में व्यर्थ होगा,' (तो हमारा उत्तर है कि) ऐसी बात नहीं है। पुरुष के संबन्ध द्वारा कृत दोषरूप प्रतिबन्ध के परिहार के लिए (लोक में अर्थज्ञान के उद्‌देश्य से शब्द का उच्चारण करते हैं) सूत्र यह है—

'अर्थज्ञान को उद्दिष्ट करके किया गया उच्चारण लोक में दोष का परिहार करता है' ।

कुछ विशेष ज्ञान ये हैं–अग्निहोत्र का ज्ञान, ज्योतिष्टोम का ज्ञान, दर्शपूर्णमास का ज्ञान, चातुर्मास्य का ज्ञान, वाजपेय का ज्ञान, सौत्रामणी का ज्ञान, अश्वमेध का ज्ञान, पुरुषमेध का ज्ञान आदि आदि । इन अनन्त ज्ञानों को उद्‌देश्य करके अध्ययन का विधान एक ही विधिवाक्य के द्वारा असंभव है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि अर्थज्ञान सामान्य को उद्दिष्ट करके इस विधिवाक्य में अध्ययन का विधान किया गया है तो सिद्धान्ती का कहना है कि तब तो विधि का फल भी सामान्य ही होगा, ज्ञानविशेष नहीं। तब तो अध्ययन पूरा करने के लिए व्यक्ति के लिए यह जान लेना पर्याप्त होगा कि वेद में धर्म अर्थात् याग का प्रतिपादन किया गया है और ऐसा मान लेना सर्वथा अयुक्त है। अतः यह स्पष्ट हो गया कि अर्थज्ञान के उद्‌देश्य से अध्ययन का विधान नहीं किया गया है ।

२. पूर्वपक्षी का कहना है कि यदि अर्थज्ञान को उद्दिष्ट करके वेद के वाक्यों का उच्चारण नहीं किया जाता, तब तो वेद के वाक्यों का अपने अर्थ में तात्पर्य ही सिद्ध नहीं होगा क्योंकि वाक्यों के अर्थ का ज्ञान होने पर ही वाक्यों के तात्पर्य का ज्ञान होता है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि वाक्यों के तात्पर्य के निर्णय के लिए अर्थज्ञान अनिवार्य नहीं है। तात्पर्य का निर्णय तो उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—इन ६ लिङ्गों की सहायता से होता है। इन ६ लिङ्गों के विवरण के लिए वेदान्तसार के 'तत्त्वसाक्षात्कारोपायाः' नामक प्रकरण को देखिए । सर्वदर्शनसंग्रह भी द्रष्टव्य है—

उपक्रमोपसंहाराचभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

१. इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि यदि बिना अर्थज्ञान के ही तात्पर्य का ज्ञान हो जाता है, तब लोक में भी अर्थज्ञान को उद्दिष्ट करके वाक्यों का

ननु अध्ययनविधेर्बोधान्तत्वाभावे विचारशास्त्रं न प्रवर्तेत, प्रयोजकाभावादित्याशङ्क्याह—

'विचार उत्तरविधिप्रयुक्त उपपद्यते' इति।

क्रतुबोधविधयः साङ्गवेदाध्ययनाद् आपातप्रतिपन्ना विरोधपरिहारेण प्रतिष्ठितं निर्णयज्ञानमन्तरेण अनुष्ठापयितुमशक्नुवन्तस्तन्निर्णयाय क्रतु-

---

अध्ययनविधि को अर्थज्ञानपर्यन्त न मानने पर तो विचारशास्त्र अर्थात् मीमांसाशास्त्र प्रवृत्त नहीं होगा, प्रयोजक न होने से। ऐसी शंका करके उत्तर देते हैं—

'विचार अर्थात् मीमांसाशास्त्र परवर्ती विधियों से उपपन्न होता है'[1]।

उच्चारण करना व्यर्थ ही है। मनुष्य अपने तात्पर्य को ही दूसरे को बतलाना चाहता है और जब वह तात्पर्यज्ञान अर्थज्ञान के बिना ही हो जाता है तब अर्थज्ञान को महत्त्व देना व्यर्थ है। अर्थ को दृष्टि में रखे बिना ही वाक्यों का उच्चारण कर देना चाहिए, सुनने वाला अर्थज्ञान के बिना ही वक्ता के तात्पर्य का निर्णय कर लेगा। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि यह युक्त नहीं है। वेद के वाक्यों और लोक के वाक्यों में बड़ा भेद है। वेद के वाक्य अपौरुषेय हैं जिसके परिणामस्वरूप वे सर्वथा दोषरहित हैं। वेद के वाक्य जिस तात्पर्य के लिए प्रयुक्त हुए हैं वह शाश्वत है, सबके लिए समान है। इसके विपरीत लौकिक वाक्यों का सम्बन्ध पुरुष से है जो हरेक प्रकार की त्रुटियों और दोषों से भरा है। लौकिक वाक्यों में अनेक दोष हो सकते हैं। यदि पुरुष अर्थज्ञान को उद्दिष्ट न करके वाक्यों का उच्चारण करे तो एक बड़ा भारी दोष यह हो जायेगा कि वक्ता किसी अन्य तात्पर्य से वाक्य का उच्चारण करेगा और श्रोता कोई अन्य तात्पर्य ही समझ लेगा। इसलिए पुरुष के सम्बन्ध से जायमान दोषों के परिहार के लिए लोक में अर्थज्ञान के उद्देश्य से वाक्यों का उच्चारण करते हैं।

१. कुमारिल भट्ट आदि अधिकांश मीमांसकों का मत है कि अध्ययनविधि का क्षेत्र अर्थज्ञानपर्यन्त है और अर्थज्ञान होने के अनन्तर स्थल-स्थल पर अर्थ में जो विरोध प्रतीत होता है उसके निर्णय के लिए मीमांसाशास्त्र की आवश्यकता होती है। इस प्रकार मीमांसाशास्त्र का प्रयोजक भी अध्ययनविधि ही है। प्रकृत में पुरुषार्थानुशासनकार के मतानुसार अध्ययनविधि अक्षरप्राप्तिपर्यन्त है, वह अर्थज्ञान तक नहीं जाती जिसके परिणामस्वरूप मीमांसाशास्त्र का भी प्रयोजक अध्ययनविधि नहीं हो सकती। इसलिए यहाँ पूर्वपक्षी का कहना है कि ऐसा मानने पर तो मीमांसाशास्त्र प्रवृत्त ही नहीं होगा। इस पर सिद्धान्ती का

विचारं प्रयोजयन्ति । श्रवणविधिस्तु साक्षादेव ब्रह्मविचारं विधत्ते । एवं च सति, श्रवणविधेः स्वविधेयप्रयोजकत्वं क्रतुविधीनां च विधेयोपकारिप्रयोजकत्वम् इत्युपपद्यतेतराम् । अध्ययनविधिप्रयुक्तिपक्षे तु तद्विधेः क्रतुद्वारा स्वर्गसिद्धिपर्यन्तत्वात् क्रत्वनुष्ठानस्यापि तत्प्रयुक्तौ क्रतुविधिवैयर्थ्यमापद्येत ।

ननु अध्ययनविधेस्त्रैवर्णिकमात्रं प्रति नित्यत्वात् तत् प्रयुक्तौ विचारस्यापि तल्लभ्येत, नान्यथेति चेत् ? क्रतुविचारस्य त्रैवर्णिकमात्रेऽपि नित्यत्वसिद्धिः किं वा ब्रह्मविचारस्य ? तत्राद्योऽस्मिन्पक्षेऽपि सम इत्याह—

'अतो नित्यः क्रतुविचारस्त्रैवर्णिकमात्रस्य' इति ।

यतोऽकरणे प्रत्यवायश्रवणात् क्रतवस्त्रैवर्णिकानां नित्या अत इत्यर्थः । द्वितीयोऽनिष्ट इत्याह—

अङ्गों के सहित वेदों का अध्ययन करने से आपाततः ज्ञात हुई क्रतुबोधविधियाँ विरोध-परिहार के द्वारा प्रतिष्ठित निर्णयज्ञान के बिना यज्ञों का अनुष्ठान कराने में असमर्थ होती हुई विरोधों के निर्णयों के लिए क्रतुविचार का प्रयोजक होती हैं । (तात्पर्य यह है कि अङ्गों सहित वेदों का अध्ययन करने पर वेदों का मोटा-मोटी ज्ञान व्यक्ति को अवश्य ही हो जाता है । उस ज्ञान के आधार पर जब व्यक्ति क्रतुविषयक विधियों के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहता है तो उसे पग-पग पर विरोधों का सामना करना पड़ता है । जब तक उन विरोधों का परिहार न हो जाय तब तक यज्ञों का अनुष्ठान नहीं हो सकता और इन विरोधों का परिहार केवल मीमांसाशास्त्र में किया गया है । इसलिए व्यक्ति के लिए मीमांसाशास्त्र का अध्ययन करना अनिवार्य हो जाता है । इस प्रकार क्रतुविधियों का विधेय है यज्ञानुष्ठान और मीमांसाशास्त्र यज्ञानुष्ठान का उपकारक है) । श्रवणविधि (आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः=आत्मा का प्रत्यक्ष करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए, उसी पर विचार करना चाहिए और उसी का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए) तो साक्षात् ही ब्रह्मविचार का विधान करती है । ऐसी वस्तुस्थिति होने पर, श्रवणविधि का अपने विधेय (ब्रह्मविचार) का प्रयोजक होना और क्रतुविधियों का अपने विधेय (क्रत्वनुष्ठान) का उपकार करने वाले (क्रतुविचार) का प्रयोजक होना उपपन्न होता है । अध्ययनविधि को विचारशास्त्र का प्रयोजक मानने पर तो उस अध्ययनविधि को क्रतु के द्वारा मुख्य पुरुषार्थभूत स्वर्ग की सिद्धि पर्यन्त मान सकते हैं और इस प्रकार क्रत्वनुष्ठान भी उसी अध्ययनविधि से ही प्रयुक्त

कहना है कि ऐसी बात नहीं है । क्रतुबोधविधियाँ और श्रवणविधि मीमांसाशास्त्र की प्रयोजक हैं । इस प्रकार प्रयोजक होने से मीमांसाशास्त्र प्रवृत्त होता है ।

'ब्रह्मविचारः पुनः परमहंसस्यैव'.इति।

नित्य इत्युनुषङ्गः।

ननु उक्तरीत्या अध्ययनस्य अक्षरग्रहणान्तत्वेऽर्थज्ञानमविहितं स्यात्। मैवम्, वाक्यान्तरेण तद्विधानात्-'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति तद्विधिः। तत्र निष्कारणशब्देन अध्ययनज्ञानयोः काम्यत्वं निवार्यते।

होने लगेगा और इस प्रकार क्रतु का विधान करने वाली विधियाँ व्यर्थ हो जायेंगी जो सर्वथा अयुक्त है। इसलिए अध्ययनविधि को विचारशास्त्र का प्रयोजक मानना युक्त नहीं है।

यदि शङ्का करते हो कि अध्ययनविधि के तीनों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-के प्रति नित्य होने से उस अध्ययनविधि से प्रयुक्त विचारशास्त्र भी तीनों के प्रति नित्य होगा, अन्यथा नहीं[1] तो हम पूछते हैं कि क्या आप तीनों वर्णों के लिए क्रतुविचार को नित्य सिद्ध करना चाहते हैं अथवा ब्रह्मविचार को ? उनमें से प्रथम अर्थात् क्रतुविचार हमारे पक्ष में भी समान है, जैसा कि सूत्र है—

'इसलिए क्रतुविचार तीनों वर्णों के प्रति नित्य है'—

अतः न करने से हानि होती है, इसलिए क्रतु तीनों वर्णों के लिए नित्य है।

द्वितीय हमें अभीष्ट नहीं है, यह कहते हैं—

'ब्रह्मविचार तो परमहंस अर्थात् संन्यासी के लिए ही'।

ऊपर वाले सूत्र में नित्य शब्द जोड़ लेना चाहिए (ब्रह्मविचार तो संन्यासी के लिए ही नित्य है)।

शङ्का होती है कि इस रीति से अध्ययन को अक्षरग्रहणान्त तक मानने पर तो अर्थज्ञान अविहित रह जायेगा अर्थात् ऐसा मानना पड़ेगा कि अर्थज्ञान का विधान नहीं किया गया है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि ऐसी बात नहीं है। दूसरे वाक्य के द्वारा अर्थज्ञान का विधान किया गया है और

---

१. पूर्वपक्षी का कहना है कि विचारशास्त्र को अध्ययनविधि से प्रयुक्त मानने पर यह लाभ होता है कि अध्ययन की भाँति विचारशास्त्र भी तीनों वर्णों के प्रति नित्य हो जायेगा, अन्यथा नहीं। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि क्रतुविचार तो हमारे मत में भी तीनों वर्णों के प्रति नित्य है क्योंकि इसके न करने पर हानि का श्रवण हुआ है। जहाँ तक ब्रह्मविचार का संबन्ध है वह तो संन्यासी लोगों के लिए ही नित्य है।

अर्थज्ञाने पुरुषप्रवृत्तिकरं वचनद्वयं शाखान्तरगतं निरुक्तकारो यास्क एवमुदाजहार—'अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥
यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्' ॥

(निरुक्त १।१८) इति।

अस्मिन् मन्त्रद्वये 'योऽर्थज्ञः' इत्यनेनार्धेन वेदार्थज्ञानं प्रशस्यते। इतरेणार्धत्रयेण ज्ञानराहित्यं निन्द्यते। यो वेदार्थं जानाति सोऽयमिह लोके सकलं श्रेयः प्राप्नोति। तथा तेन ज्ञानेन पापक्षये सति मृतः स्वर्गं प्राप्नोति। तदेतत् ऐहिकामुष्मिकं ज्ञानफलं तैत्तिरीया मन्त्रोदाहरणेन तदीयतात्पर्याभिधायिब्राह्मणेन च स्पष्टीचक्रुः—'तदेषाभ्युक्ता—ये अर्वाङुत वा पुराणे वेदं विद्वांसमितो वदन्त्यादित्यमेव ते परिवदन्ति, सर्वेऽग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसमिति'। 'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति। तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे दिवे नमस्कुर्यान्नाश्लीलं कीर्तयेदेता एव देवताः प्रीणाति' (तै० आ० २।१५) इति।

वह विधायक वाक्य यह है—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'-ब्राह्मण को बिना किसी फल की आशा के वेद का अध्ययन करना चाहिए और उसका अर्थज्ञान करना चाहिए। यहाँ 'निष्कारण' शब्द के द्वारा अध्ययन और ज्ञान के काम्य होने का निवारण किया गया है अर्थात् वेदाध्ययन और वेदार्थज्ञान काम्य नहीं अपितु नित्य हैं।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि-वाक्य के द्वारा विहित अध्ययन दृष्ट फल के लिए है और वह अध्ययन अक्षरग्रहण तक सीमित है।

वेदार्थज्ञान की प्रशंसा तथा अज्ञान की निन्दा

अर्थज्ञान में पुरुष की प्रवृत्ति कराने वाले अन्यशाखागत दो वाक्यों को निरुक्तकार यास्क ने इस प्रकार उद्धृत किया है—किंच संसार में ज्ञान की सर्वदा प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा होती है—'जो वेद को पढ़कर उसके अर्थ को नहीं जानता वह बोझ ढोने वाला बिलकुल ठूँठा वृक्ष है। जो मनुष्य वेद के अर्थ को जानता है वह संपूर्ण कल्याण को प्राप्त करता है। ज्ञान से पाप के नष्ट हो जाने पर वह स्वर्ग को प्राप्त करता है'। 'जो वेदवाक्य बिना अर्थ समझे ग्रहण किया गया है तथा पाठमात्र से उच्चारण किया गया है,

वेदं विद्वान् अर्थाभिज्ञः पुरुषः स च द्विविधः । अर्वाचीनकाले समुत्पन्नः चतुर्दशविद्यास्थानकुशलः कश्चिदुपाध्यायः पुरातनकाले समुत्पन्नो व्यासादिश्च । तमेतमुभयविधं विद्वांसं विद्यामदधनमद-कुलमदोपेताः पण्डितंमन्या ये पुरुषा अभितो विद्यादिषु दूषयन्ति

अग्नि के अभाव में सूखे ईंधन की तरह वह कभी नहीं जलता = प्रकाश नहीं करता ।'

इन दो मन्त्रों में 'योऽर्थज्ञः' इस श्लोकार्ध के द्वारा वेद के अर्थ के ज्ञान की प्रशंसा की गई तथा अन्य तीन श्लोकार्धों के द्वारा अर्थ-ज्ञान के राहित्य की निन्दा की गई है। जो वेद के अर्थ को जानता है वह इस लोक में सम्पूर्ण श्रेय को प्राप्त करता है। उसी प्रकार, उस ज्ञान से उसके पाप नष्ट हो जाने पर वह वेदार्थज्ञाता मरणानन्तर स्वर्ग को प्राप्त होता है। तैत्तिरीय संहिता के अध्येताओं ने ज्ञान के इस ऐहिक और आमुष्मिक फल को मन्त्र के उदाहरण के द्वारा तथा उस मन्त्र के तात्पर्य के अभिधायक ब्राह्मण के द्वारा स्पष्ट किया है। इसलिए यह ऋचा कही गई है—'जो लोग आधुनिक अथवा प्राचीन वेदज्ञ की निन्दा करते हैं वे आदित्य की ही निन्दा करते हैं, दूसरे अग्नि और तीसरे वायु की निन्दा करते हैं। 'जितने भी देवता हैं वे सब वेदज्ञ ब्राह्मण में निवास करते हैं। इसलिये वेदज्ञ ब्राह्मणों के लिए प्रतिदिन नमस्कार करे, उनके प्रति अश्लील भाषण न करे। इस प्रकार संपूर्ण देवताओं को संतुष्ट करता है'।

वेद के अर्थ को जानने वाले विद्वान् दो प्रकार के हैं—अर्वाचीन काल में समुत्पन्न, चतुर्दश विद्याओं में कुशल कोई उपाध्याय और पुरातन काल में समुत्पन्न व्यास आदि। विद्यामद, धनमद और कुलमद से फूले हुए तथा स्वयं को पण्डित मानने वाले जो लोग इन दोनों प्रकार के विद्वानों में विद्या आदि के विषय में दोष निकालते हैं वे सभी पहले सूर्य में दोष निकालते हैं, दूसरे सूर्य की अपेक्षा (सूर्य के बाद) अग्नि में दोष निकालते हैं, तीसरे उन दोनों की अपेक्षा (उन दोनों के बाद) वायु में दोष निकालते हैं। हन्ति अर्थात् सदा गति करता है इस व्युत्पत्ति से यहाँ 'हंस' शब्द वायु के लिए प्रयुक्त हुआ है।

वेदार्थ के ज्ञाता का अग्नि आदि के स्वरूप का होना इस प्रकार उल्लिखित है। 'अग्नि, वायु, आदित्य के सायुज्य (सालोक्य) को प्राप्त कर लेता है'। न केवल ये तीन देवता किंतु सभी देवता वेदज्ञ में निवास करते हैं। इसलिए वेदज्ञ ब्राह्मणों को देखकर अथवा उनका स्मरण करके उन्हें प्रतिदिन नमस्कार करना चाहिए। उस वेदज्ञ में विद्यमान दोष को भी नहीं कहना चाहिए। ऐसा करने पर वेद को नमस्कार करने वाला वह व्यक्ति उन-उन

ते सर्वेऽपि आदित्यमेव प्रथमं दूषयन्ति, आदित्यापेक्षया द्वितोयमग्नि दूषयन्ति, तदुभयापेक्षया तृतीयं हंसं दूषयन्ति। हन्ति सदा गच्छतोति हंसो वायुः।

अग्न्यादिरूपत्वं च वेदविद आम्नातम्—'अग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' (तै० आ० २।१५) इति। न केवलमेतद्देवतात्रयं किंतु सर्वा अपि देवता वेदविदि वसन्ति। तस्मात् ब्राह्मणान् वेदविदो दृष्ट्वा स्मृत्वा वा प्रतिदिनं नमस्कुर्यात्, न तु तस्मिन् विद्यमानमपि दोषं कीर्तयेत्। एवं सति तत्तन्मन्त्रार्थभूताः सर्वा अपि देवता वेदार्थविदा स्मर्यमाणतया तदीयहृदयेऽवस्थिता अयं नमस्कर्ता तोषयति। न चैतदध्ययनस्यैव फल-मिति शङ्कनीयं 'विद्वांसम्' (तै० आ० २।१५) इत्याम्नातत्वात्। अन्यथा वेदमधीयानमित्याम्नायेत। तस्मात् सर्वदेवताबुद्ध्या प्राणिभिः पूज्यस्य वेदार्थविदो लोकद्वयेऽपि श्रेयःप्राप्तिरुपपद्यते।

यस्तु वेदमधीत्यापि अर्थं न विजानाति सोऽयं पुमान् भारमेव हरति धारयति। स्थाणुरिति दृष्टान्तः। छिन्नशाखं शुष्कं वृक्षमूलं स्थाणुशब्दे-नोच्यते। स च यथेन्धनार्थमेवोपयुज्यते न तु पुष्पफलार्थं, तथा केवलपाठ-कस्य व्रात्यत्वं न भवतीत्येतावदेव न ह्यनुष्ठानं स्वर्गादिफलसिद्धिर्वास्ति। किल इत्यनेन लोकप्रसिद्धिर्द्योत्यते। लोकेऽपि पाठकस्य यावती धनादि-पूजा ततोऽप्यधिका विदुषि दृश्यते।

किंच यद्वेदवाक्यमाचार्यात् गृहीतमर्थज्ञानरहितं पाठरूपेणैव पुनः पुनरुच्चार्यते, तत् कदाचिदपि न ज्वलति स्वार्थं न प्रकाशयति। यथाग्नि-

---

मन्त्रों के अर्थभूत सभी देवताओं को संतुष्ट कर लेता है जिन्हें वह वेदज्ञ स्मरण करके अपने हृदय में अवस्थित रखता है। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि यह अध्ययन (पाठमात्र) का ही फल है क्योंकि प्रकृत में 'विद्वांसम्' शब्द का उल्लेख किया गया। यदि यह अध्ययन का फल अभिप्रेत होता तो 'विद्वांसम्' के स्थान पर 'वेदमधीयानम्' का उल्लेख होता। अतः समस्त देवताओं की भावना से प्राणियों के द्वारा पूज्य उस वेदार्थज्ञाता को इहलोक तथा परलोक दोनों में श्रेयः प्राप्ति (कल्याणप्राप्ति) युक्तियुक्त है।

इसके विपरीत जो वेद का अध्ययन करके भी उसके अर्थ को नहीं जानता वह पुरुष भार को ही ढोता है (धारण करता है)। स्थाणु का दृष्टान्त दिया गया है। कटी हुई शाखाओं वाले सूखे वृक्षमूल को स्थाणु (ठूंठ) कहते हैं और वह स्थाणु जिस प्रकार ईन्धन के लिए ही उपयोग में आता है, पुष्प और फल उत्पन्न करने के लिए नहीं, उसी प्रकार वेद का केवल पाठ करने

रहितप्रदेशे प्रक्षिप्तं शुष्ककाष्ठं न ज्वलति तद्वत्। तथा सति तस्य वाक्यस्य वेदत्वमेव मुख्यं न स्यात्। अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेत्त्यनेनेति वेदशब्दनिर्वचनम्। तथा चोक्तम्—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता'॥ इति

अतो मुख्यवेदत्वसिद्धये ज्ञातव्य एव तदर्थः। किंचात्र यास्केन (निरुक्त १।१९) काचिदन्याप्यृगुदाहृता—

'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
(ऋ० सं० १०।७१।४) इति।

तत्र पूर्वार्धस्य तात्पर्यं स एव दर्शयति—'अप्येकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम्। अपि च शृण्वन्न शृणोत्येनाम् इति अविद्वांसमाहार्धम्' इति। अस्यायमर्थः—यः पुमानर्थं न वेत्ति तं प्रति पूर्वार्धेन मन्त्रो ब्रूते। एकः पुरुषः पाठमात्रपर्यवसितो वेदरूपां वाचं पश्यन्नपि न सम्यक् पश्यति। एकवचनबहुवचनादिविवेकाभावे पाठशुद्धेरपि कर्तुमशक्यत्वात्। 'वायुमेव

वाले व्यक्ति को उससे केवल यह लाभ है कि वह व्रात्य (पतित) नहीं होता। वह यज्ञ का अनुष्ठान नहीं कर सकता है तथा उसे स्वर्ग आदि फलों की सिद्धि भी नहीं होती। उपर्युक्त मन्त्र में प्रयुक्त 'किल' शब्द लोक-प्रसिद्धि का द्योतक है। लोक में भी पाठक की जितनी धनादि से पूजा होती है, उससे बहुत अधिक वेदज्ञ विद्वान् की होती है।

इसके अतिरिक्त जो वेदवाक्य आचार्य से बिना अर्थ समझें ग्रहण किया गया है और पाठरूप से पुनः-पुनः उच्चारण किया जाता है, वह कभी भी नहीं जलता अर्थात् अपने अर्थ को प्रकाशित नहीं करता; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अग्निरहित प्रदेश में फेंका हुआ शुष्क काष्ठ नहीं जलता है। ऐसी स्थिति में उस वाक्य का वेदत्व ही मुख्यतः सिद्ध नहीं होगा, (वह वाक्य मुख्य रूप से वेद नहीं कहा जा सकता) क्योंकि वेद शब्द का निर्वचन है-इससे व्यक्ति पुरुषार्थ के अलौकिक उपाय को जान लेता है। और कहा भी है 'प्रत्यक्ष तथा अनुमान से जो उपाय ज्ञात नहीं होता है, उसे लोग वेद के द्वारा जान लेते हैं, इसी में वेद का वेदत्व है' इसलिए मुख्यतः वेदत्व की सिद्धि के लिए उसका अर्थ जानना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त इस विषय में यास्क ने किसी अन्य ऋचा का भी उदाहरण दिया है—'कोई एक वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता, कोई एक इसे सुनता हुआ भी नहीं

स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' 'आदित्यानेव स्वेन भागधेयेनोपधावति त एवैनं भूतिं गमयन्ति' (तै० सं० २।१।१।१) इत्यादौ अव्युत्पन्नः कथं पाठं निश्चिनुयात् ? अन्यः कश्चिदर्थज्ञानाय व्याकरणाद्यङ्गानि शृण्वन्नपि मीमांसाराहित्यादेनां वेदरूपां वाचं न सम्यक् शृणोति । 'यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्' (तै० सं० २।३।१२।१) इत्यत्र व्याकरणमात्रेण प्रतिग्रहीतुरिष्टिः प्रतीयते । मीमांसायां तु न्यायेन दातुरिति निर्णीतम् (जै० सू० ३।४।३०) । तस्मादुभयविधमप्यविद्वांसं प्रति एवमाहेति ।

सुनता । वही वाणी किसी एक के प्रति अपने शरीर (स्वरूप) को खोलकर रख देती है, जिस प्रकार सुन्दर वस्त्र पहने हुए कामना करती हुई स्त्री अपने पति के प्रति अपने शरीर को प्रकट कर देती है ।'

यास्क ने ही इस ऋचा के पूर्वार्ध का तात्पर्य दिखलाया है—'एक व्यक्ति जो अर्थ का ज्ञान नहीं रखता, केवल कण्ठाग्र कर लेता है, वह वेदवाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और इसको सुनता हुआ भी नहीं सुनता । ऋक् का यह अर्ध भाग अविद्वान् के विषय में कहता है' । इसका यह अर्थ है-जो पुरुष अर्थ को नहीं जानता, उसके प्रति मन्त्र पूर्वार्ध से कहता है । एक पुरुष जिसका अध्ययन पाठमात्र तक पर्यवसित है वह वेदरूपा वाणी को देखता हुआ भी सम्यक् प्रकार से नहीं देखता है । एकवचन, बहुवचन आदि के विवेक के अभाव में वह पाठशुद्धि भी नहीं कर सकता । जैसे कि—'वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' (अपने भाग से वायु को ही शीघ्र प्राप्त होता है वह इसे ऐश्वर्य प्राप्त कराता है), 'आदित्यानेव स्वेन भागधेयेनोपधावति त एवैनं भूतिं गमयन्ति' (अपने भाग से आदित्यों को ही शीघ्र प्राप्त होता है वे ही इसे ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं) इत्यादि स्थल में अव्युत्पन्न कैसे पाठ का निश्चय करेगा ? दूसरा कोई अर्थज्ञान के लिए व्याकरणादि अङ्गों को सुनकर भी मीमांसा के ज्ञान से रहित होने से वेदरूपा वाणी को सम्यक् प्रकार (अच्छी तरह) से नहीं सुनता । जैसे कि—'यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्' (जितने अश्वों का प्रतिग्रह करे उतने ही वरुणदेवताक चतुष्कपालों की इष्टि करे) इस स्थल में व्याकरणमात्र से यह प्रतीत होता है कि यह इष्टि अश्वों को ग्रहण करने वाले को करनी है किंतु मीमांसा में तो न्याय से यह निर्णय किया गया है कि अश्वों का दान करने वाले को ही करनी है । इसलिए दोनों प्रकार के अविद्वान् के प्रति इस प्रकार कहा गया है ।

तृतीय पाद के तात्पर्य को यास्क दिखलाते हैं—'किसी एक के लिए

तृतीयपादतात्पर्यं दर्शयति—'अप्येकस्मै तन्वं विसस्रे इति स्वमात्मानं विवृणुते ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा' इति। अपिशब्दपर्याय उतोशब्दः। स च पूर्वोक्तानभिज्ञवैलक्षण्यायात्र प्रयुक्तो निपातानामनेकार्थत्वात्। यः पुमान् व्याकरणाद्यङ्गैः स्वशब्दार्थं मीमांसया तात्पर्यं च शोधयितुं प्रवृत्तस्तस्मै एकस्मै वेदः स्वकीयां तनुं विसस्रे। स्वमित्यादिकं पदव्याख्यानम्। ज्ञानमित्यादिकं तात्पर्यव्याख्यानम्। वेदार्थप्रकाशनक्षमं सम्यग्ज्ञानमनया तृतीयपादरूपया वाचा मन्त्र आहेति।

चतुर्थपादतात्पर्य दर्शयति 'उपमोत्तमया वाचा। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु। सुवासाः कल्याणवासाः। कामयमाना ऋतुकालेषु। यथा स एनां पश्यति स शृणोतीत्यर्थज्ञप्रशंसा' इति। अस्यायमर्थः—उत्तमया चतुर्थपादरूपया वाचा तृतीयपादार्थस्योपमा उच्यते। उशतीत्येतस्य व्याख्यानं कामयमानेति। यद्यपि अह्नि गृहकृत्यवेलायां मलिनवासास्तथापि संभोगकालेषु कल्याणवासा भवति। तत्र हेतुः। कामयमाना ऋतुकालेष्विति। यथा स पतिरेनां जायां साकल्येनादरयुक्तः पश्यति, किंच तयोक्तमर्थं हितबुद्ध्या शृणोति, तथायं चतुर्दशविद्यास्थानपरिशीलनोपेतः पुरुषो वेदार्थरहस्यं सम्यक् पश्यति, वेदोक्तं च धर्मब्रह्मरूपमर्थं हितबुद्ध्या स्वीकरोति। सेयमुक्ता वेदार्थाभिज्ञस्य प्रशंसेति।

पुनरप्यृगन्तरं यास्कः (निरुक्त १।२०) उदाजहार—'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥'

(ऋ० सं० १०।७१।५) इति

अपने शरीर को खोलकर रख देती है अर्थात् अपने आपको खोल देती है। इस वाणी से अर्थ प्रकाशन रूप ज्ञान को कहा है। इसका यह अर्थ है—उतो शब्द अपि शब्द का पर्याय है। निपातों के अनेक अर्थ होने से यह निपात (उतो) यहाँ पर पूर्वोक्त अनभिज्ञ (अज्ञानी) से विलक्षणता (अन्तर) बतलाने के लिए प्रयुक्त हुआ है। जो पुरुष व्याकरणादि अङ्गों के द्वारा वेद के शब्दार्थ तथा मीमांसा के द्वारा वेद के तात्पर्य के शोधन में प्रवृत्त होता है, उस एक के लिए वेद अपने शरीर को खोलकर रख देता है। यास्क के भाष्य में प्रयुक्त 'स्वमित्यादि' पदव्याख्यान है और 'ज्ञानमित्यादि' तात्पर्यव्याख्यान है। इस तृतीयपादरूपा वाणी के द्वारा मन्त्र ने वेद के अर्थ-प्रकाशन में समर्थ सम्यक् ज्ञान को कहा है।

यास्क चतुर्थ पाद के तात्पर्य को दिखलाते हैं—'चतुर्थ पाद से उपमा दी

अयमर्थः। पूर्वोदाहृतायाः 'उत त्वः पश्यन्' इत्यादिकाया ऋचोऽनन्तरमेवाम्नाता काचित् ऋक् तस्य पूर्वोक्तमन्त्रार्थस्य भूयसे निर्वचनाय संपद्यते। तमर्थमतिशयेन प्रतिपादयितुं प्रभवति। कथमिति चेत् ? तदुच्यते। अपि चैकं चतुर्दशविद्यास्थानकुशलं पुरुषं वेदरूपाया वाचः सख्ये स्थित्वा स्थैर्येण वेदोक्तार्थामृतपानयुक्तमाहुः, अभिज्ञाः कथयन्ति। सखिविदं सखायम्' (तै० आ० २।१५) इति मन्त्रे वेदस्य सखित्वमुदाहृतम्। यद्वा स्वर्गलोके देवानां सख्ये स्थित्वातिशयेन पीतामृतमाहुः। वाचाम् इना ईश्वराः सभासु प्रगल्भा वा वाजिनाः। तेषु सख्येऽप्येनं वेदार्थकुशलं चोदयितुं न हिन्वन्ति, न केऽपि प्राप्नुवन्ति। तेन सह विवदितुमसमर्थत्वात्। यस्तु अन्यः पाठमात्रपरः पुष्पफलरहितां वाचं शुश्रुवान् भवति। पूर्वकाण्डोक्तस्य धर्मस्य ज्ञानं पुष्पम्। उत्तरकाण्डोक्तस्य ब्रह्मणा ज्ञानं फलम्। यथा लोके पुष्पं फलस्योत्पादकं तथा वेदानुवचनादिधर्मज्ञानमनुष्ठानद्वारा फलात्मकब्रह्मज्ञानेच्छां जनयति। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' (बृ० उ० ४।४।२२) इति श्रुतेः। यथा च

गई है। जिस प्रकार काम-भावना वाली, उत्तम वस्त्र पहने पत्नी ऋतुकाल में पति को अपने आपको सौंप देती है और जिस प्रकार वह पति अपनी पत्नी को देखता है, उसकी बात सुनता है, उसी प्रकार वह वेदज्ञ इस वाणी को देखता सुनता है—इसके तत्त्व को समझता है। यह अर्थज्ञ की प्रशंसा है'। इसका यह अर्थ है—चतुर्थ पाद रूप अन्तिम वाणी के द्वारा तृतीय पाद के अर्थ की उपमा कही गई है। 'उशती' शब्द का व्याख्यान है 'कामयमाना'। यद्यपि दिन में गृहकृत्य के समय मलिन वस्त्र पहनती है तथापि संभोग के समय उत्तम वस्त्र पहन लेती है। इसका कारण यह है कि ऋतुकाल में वह संभोगार्थ पति की कामना करती है। जिस प्रकार वह पति अपनी पत्नी को सब प्रकार से आदरयुक्त होकर देखता है और उसकी कही हुई बात को हितभावना से सुनता है, उसी प्रकार चौदह विद्यास्थानों का परिशीलन करने वाला वह अर्थज्ञ विद्वान् वेदार्थ के रहस्य को सम्यक् प्रकार से देखता है तथा वेद में उक्त धर्म तथा ब्रह्म रूप अर्थ को अपने हित की भावना से स्वीकार करता है। वेद के अर्थ के ज्ञाता की यह प्रशंसा की गई है।

तदुपरान्त यास्क ने दूसरी ऋचा को उद्धृत किया है—'बाद वाली ऋचा उसी अर्थ के अधिक निर्वचन (व्याख्यान) के लिए हैः—

एक (वेदज्ञ) को मित्रता में स्थिरतापूर्वक पान करने वाला कहते हैं। शास्त्रार्थ में कोई उसका मुकाबला नहीं कर सकता। (अर्थ को न जानने

फलं तृप्तिहेतुस्तथा ब्रह्मज्ञानं कृतकृत्यत्वहेतुः 'यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद् ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति' (परमहंसोपनिषद् ४) इति श्रुतेः। तादृशपुष्पफलरहितवेदपाठकः स एष पुमान् अधेन्वा मायया सह चरति। नवप्रसूतिका क्षीरदोग्ध्री गौः प्रीतिहेतुत्वात् धिनोतीति व्युत्पत्त्या धेनुरित्युच्यते। पाठमात्रपरं प्रति वेदरूपा वाग्धर्मज्ञानरूपं क्षीरं न दोग्धीत्यधेनुः। अत एवासौ माया कपटरूपा ऐन्द्रजालिकनिर्मितगोसदृशरूपत्वात्। तया मायया सह चरन्नयं परमपुरुषार्थं न लभते इत्यर्थः। इत्थं यास्केन ज्ञानस्तुत्यज्ञाननिन्दोदाहरणस्य प्रपञ्चित्वात् यच्च स्तूयते तद्विधीयते इति न्यायेन अध्ययनवदर्थस्यापि विधिरभ्युपगन्तव्यः।

वाला) फल तथा फूल से रहित वाणी को सुनता हुआ दूध न देने वाली गाय की तरह वाणी के प्रतिरूप (भ्रममात्र) के साथ घूमता है।'

इसका यह अर्थ है--पूर्व उदाहृत 'उत त्वः पश्यन्' इत्यादि ऋचा के अनन्तर पठित यह ऋचा पूर्वोक्त मन्त्र के अर्थ का और अधिक निर्वचन (व्याख्यान) करती है। उस अर्थ का और भी अधिक प्रतिपादन करती है। यदि पूछो कि कैसे? सुनो कहते हैं--चौदह विद्यास्थानों में कुशल पुरुष के विषय में अभिज्ञ कहते हैं कि वह पुरुष वेदरूपा वाणी की मित्रता में स्थिर रहकर वेदोक्त अर्थ रूप अमृत का निरन्तर पान करता है। 'सखिविदं सखायम्' इस मन्त्र में वेद के सखित्व (मित्रता) का उदाहरण मिलता है। अथवा स्वर्गलोक में देवों की मित्रता में स्थित होकर अमृत का अत्यधिक पान करता है। 'वाजिनाः' का अर्थ है वाणी के ईश्वर (वाचाम् इना ईश्वराः) अथवा सभाओं में प्रगल्भ (वाक्पटु)। इनके बीच में भी कोई इस वेदार्थ कुशल का मुकाबला नहीं कर सकता क्योंकि उसके साथ विवाद करने में वे असमर्थ होते हैं। दूसरा जो कोई वेद के मन्त्रों का केवल पाठ करता है वह पुरुष पुष्प और फल से रहित वाणी को सुने हुए होता है। मीमांसा के पूर्वकाण्ड (पूर्वमीमांसा, कर्मकाण्ड) में उक्त धर्म (यज्ञ) के ज्ञान को पुष्प तथा उत्तरकाण्ड में उक्त ब्रह्म के ज्ञान को फल कहा गया है। जिस प्रकार लोक में पुष्प फल का उत्पादक होता है, उसी प्रकार वेदाध्ययन से उत्पन्न धर्मज्ञान (यज्ञ-ज्ञान) अनुष्ठान द्वारा फल रूप ब्रह्मज्ञान की इच्छा को उत्पन्न करता है। जैसा कि श्रुति है-'ब्राह्मण लोग इस ब्रह्म को वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप और उपवास रूप व्रत आदि साधनों से जानना चाहते हैं। जिस प्रकार फल तृप्ति का कारण होता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान भी कृतकृत्यत्व का कारण होता है (अर्थात् ब्रह्मज्ञान होने के उपरान्त कुछ भी करणीय अवशिष्ट नहीं रहता) जैसा कि श्रुति है-'जो पूर्णानन्द

किंच नक्षत्रेष्टिकाण्डे प्रतीष्टिफलवाक्यं यागतद्वेदनयोः समानमेवाम्नायते 'यथा ह वा अग्निर्देवानामन्नाद एवं ह वा एष मनुष्याणां भवति य एतेन हविषा यजते य उ चैनदेवं वेद' (तै० ब्रा० ३।१।४।१) इति। अतो यागवत् फलाय स्ववेदनमपि विधीयते। अनेन न्यायेन सर्वेष्वपि ब्राह्मणेषु वेदनविधयो द्रष्टव्याः।

ननु 'विद्याप्रशंसा' (जै० सू० १।२।१५) इति सूत्रे वेदनफलानां प्रशंसारूपत्वं जैमिनिना सूत्रितमिति चेत्, अस्तु नाम। विद्यमानेनापि फलेन प्रशंसितुं शक्यत्वात्। दर्शयागस्य पूर्णमासयागस्य च अतिपाते सति प्रायश्चित्तरूपं वैश्वानरेष्टिं विधातुं विद्यमानेनैव स्वर्गफलेन स्तुतिः

तथा केवल ज्ञानरूप ब्रह्म है वही मैं हूँ यह जानकर कृतकृत्य हो जाता है'। उस प्रकार के पुष्प और फल से रहित वेदपाठक (वेद का पाठमात्र करने वाला) पुरुष अधेनु माया के साथ विचरण करता है। नई ब्याई हुई तथा दूध देने वाली गौ प्रीति का कारण होने से 'धिनोति इति' (प्रसन्न करती है) इस व्युत्पत्ति से धेनु कहलाती है। वेदमन्त्रों के पाठमात्र को करने वाले के प्रति वेदरूपा वाणी धर्म और ब्रह्मज्ञान रूपी दुग्ध को नहीं देती, इसलिए वह अधेनु है। अतएव वेदवाणी माया अर्थात् कपटरूपा है क्योंकि वह ऐन्द्रजालिक (जादूगर) द्वारा निर्मित गौ के समान होती है। उस माया के साथ विचरण करता हुआ वह पुरुष परम पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं करता है, यह अर्थ हुआ। इस प्रकार यास्क ने ज्ञान की स्तुति और अज्ञान की निन्दा के उदाहरण का व्याख्यान किया है। 'यच्च स्तूयते तद् विधीयते' (जिसकी प्रशंसा की जाती है उसका विधान किया जाता है') इस न्याय के अनुसार अध्ययन की तरह अर्थज्ञान के विधान को भी अङ्गीकार करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त नक्षत्रेष्टि काण्ड में प्रत्येक इष्टि का फलवाक्य याग और उसके ज्ञान के विषय में समान रूप से पठित है—'जिस प्रकार देवताओं में अग्नि अन्न भक्षण करने वाला है, उसी प्रकार वह भी मनुष्यों में अन्न भक्षण करने में अत्यधिक समर्थ हो जाता है जो इस हवि से इष्टि करता है और जो इष्टि को इस प्रकार जानता है'। इस प्रकार ब्राह्मणवाक्य याग के अनुष्ठान की तरह याग के अर्थज्ञान का भी फल के लिए विधान करता है। इस न्याय से सब ब्राह्मणों में ज्ञान-विषयक विधियों को देखना चाहिए।

यदि यहाँ कोई यह शङ्का करे कि जैमिनि ने 'विद्याप्रशंसा' इस सूत्र में ज्ञान के फलों को प्रशंसा के रूप में सूत्रित किया है तो हमारा कहना है कि करने दीजिए, इससे हमारा क्या बिगड़ जाता है? विद्यमान की भी फल के द्वारा प्रशंसा

क्रियते 'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' (तै० सं० २।२।५।४) इति । एतच्चाचार्यैर्ब्रह्मज्ञानफलवाक्यस्य स्वार्थेऽपि तात्पर्यं दर्शयितुमुदाहृतम्—

इच्छाम्येवार्थवादत्वं वचसोऽन्यपरत्वतः ।
यथावस्त्वभिधायित्वान्न त्वभूतार्थवादता ॥
इज्येते स्वर्गलोकाय दर्शादर्शौ यथा तथा ।
न त्वभूतार्थवादत्वं पापश्लोका श्रुतिर्यथा ॥
(बृ० उ० वा० १२७-१२८) इति ।

न च वेदनमात्रेण फलसिद्धावनुष्ठानवैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम्, फलभूयस्त्वेन परिहृतत्वात् । उदाहृतं चात्र जैमिनिसूत्रम्—

'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्' (जै० सू० १।२।१७) इति ।

एतच्चास्माभिः 'तरति ब्रह्महत्या योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (तै० सं० ५।३।१२।२) इत्युदाहरणेन व्याख्यातम् ।

छन्दोगाश्च केवलादनुष्ठानात् विद्यासहितेऽनुष्ठाने फलातिशयमामनन्ति—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च । यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० उ० १।१।१०) इति यद्यप्यङ्गावबद्धोपास्तिरत्र विद्या-

---

की जा सकती है । दर्शयाग और पूर्णमास याग के समय के अतिक्रमण हो जाने पर प्रायश्चित्तरूपा वैश्वानरेष्टि का विधान करने के लिए विद्यमान की ही स्वर्गफल के द्वारा स्तुति की जाती है—'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' स्वर्गलोक के लिए दर्शपूर्णमास किए जाते हैं' । ब्रह्मज्ञान के फलबोधक वाक्य का स्वार्थ में भी तात्पर्य है यह दिखलाने के लिए आचार्यों ने यह उदाहरण दिया है—

ब्रह्मज्ञान के फलवाक्य को हम अर्थवाद के रूप में स्वीकार करते हैं क्योंकि यह दूसरे (अर्थात् ब्रह्मज्ञान) की प्रशंसा के लिए आया है किंतु यथार्थ वस्तु का अभिधान करने के कारण यह वाक्य अभूत अर्थवाद (अर्थात् गुणवाद) नहीं है । जिस प्रकार 'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' यह वाक्य भूतार्थवाद है, उसी प्रकार प्रकृत वाक्य भी भूतार्थवाद है । जिस प्रकार 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' यह वाक्य अभूतार्थवाद (गुणवाद) है, उस प्रकार प्रकृत वाक्य नहीं है[1] ।

---

१. अर्थवाद तीन प्रकार का होता है-गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद ।

शब्देन विवक्षिता तथापि न्यायः सर्वास्वपि विद्यासु समानः।

कुतस्तवैतावती वेदने भक्तिरिति चेत्। कुतो वा तवैतावान् प्रद्वेषः। प्रशंसा त्वस्माभिर्भूयसी दर्शिता। निन्दा तु न काप्युपलभामहे। किंतु कर्मजन्यमपूर्वं यथा मरणादूर्ध्वं जीवेन सह गच्छति तथा विद्याजन्यमप्यपूर्वं गच्छति। तथा च वाजसनेयिन आमनन्ति—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' (बृ० उ० ४।४।२) इति। तस्मात् अध्ययनवदर्थज्ञानस्यापि विहितत्वादर्थज्ञानाय वेदो व्याख्यातव्यः।

यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि अर्थज्ञान मात्र से फल-सिद्धि हो जाने पर अनुष्ठान व्यर्थ हो जाता है क्योंकि हमने पहले ही इस शङ्का का परिहार इस अधार पर कर दिया है कि अनुष्ठान का फल ज्ञान की अपेक्षा अधिक होता है और इस प्रसङ्ग में हमने जैमिनि के इस सूत्र को उद्धृत किया था 'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्'। और इस सूत्र की व्याख्या हमने 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' इस उदाहरण के द्वारा की है।।

छान्दोग्योपनिषद् के अध्येताओं का कथन है कि केवल अनुष्ठान की अपेक्षा ज्ञानसहित अनुष्ठान से अधिक फल मिलता है 'जिन्हें वेदार्थ का ज्ञान है और जिन्हें वेदार्थ का ज्ञान नहीं है वे दोनों यज्ञ करते हैं। विद्या नाना प्रकार की है। जो कर्म ज्ञान, श्रद्धा और रहस्यज्ञान के साथ किया जाता है वह अधिक बलशाली होता है'। यद्यपि यहाँ विद्याशब्द से अङ्गावबद्ध उपासना विवक्षित है, तथापि न्याय सभी विद्याओं में समान है।

अन्य प्रमाण से विरोध उपस्थित रहने पर जो अर्थवाद होता है उसे गुणवाद कहते हैं। अन्य प्रमाण से अवगत अर्थ का बोधक जो अर्थवाद हो उसे अनुवाद कहते हैं। वह अर्थवाद भूतार्थवाद कहलाता है जो ऐसे अर्थ का बोधक हो जिसका अन्य प्रमाण से विरोध तथा प्राप्ति न हो और जो यथार्थ हो। 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' (जिसकी जुहू पलाश से निर्मित होती है वह अपनी बुराई नहीं सुनता) यह गुणवाद है क्योंकि पलाश की जुहू वाला व्यक्ति भी अनेक बार अपने कानों से ही अपनी बुराई सुनता है। 'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' यह वाक्य भूतार्थवाद है क्योंकि इसमें यथार्थ स्वर्ग रूप फल का कथन हुआ है। दर्श और पूर्णमास का फल स्वर्ग होता है—इस तथ्य का उद्घाटन तो इस विधिवाक्य में हुआ है—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'। सारे विवरण का अभिप्राय यह है कि अर्थज्ञान की प्रशंसा करने वाले वाक्यों ने यथार्थ वस्तु का अभिधान किया है, अयथार्थ का नहीं।

विषयप्रयोजनसंबन्धाधिकारिज्ञानमन्तरेण श्रोतृप्रवृत्त्यभावात् विषयादयो निरूप्यन्ते। व्याख्यानस्य व्याख्येयो वेदो विषयः। तदर्थज्ञानं प्रयोजनम्। व्याख्यानव्याख्येयभावः संबन्धः ज्ञानार्थी चाधिकारी। यद्यप्येतावत् प्रसिद्धं तथापि वेदस्य विषयाद्यभावे व्याख्यानस्यापि परमविषयादिकं न स्यात्। अतो वेदस्य तच्चतुष्टयमुच्यते।

वेदे पूर्वोत्तरकाण्डयोः क्रमेण धर्मब्रह्मणी विषयः, तयोरनन्यलभ्यत्वात्। तथा च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितं—'धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये' इति। जैमिनीये च द्वितीयसूत्रे 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्', 'चोदना प्रमाणमेव' इति नियमद्वयं संप्रदायविद्भिरभिहितम्। चोदनैवेत्यमुमर्थमुपपादयितुं चतुर्थसूत्रे प्रत्यक्षविषयत्वं धर्मस्य निराकृतम्—'प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' (जै० सू० १।१।४) इति। अनुष्ठानादूर्ध्वमुत्पत्स्यमानस्य धर्मस्य पूर्वमविद्यमानत्वात् न प्रत्यक्षयोग्यतास्ति। उत्तरकालेऽपि रूपादिराहित्यात् नेन्द्रियैरवगम्यते। अत एव अदृष्टमिति सर्वैरभिधीयते। लिङ्गराहित्यात् नानुमानविषयत्वमप्यस्ति। सुखदुःखे धर्माधर्मयोर्लिङ्गमिति चेत्, बाढम्। अयमपि लिङ्गलिङ्गिभावो वेदेनैव गम्यते। ततश्चोदनैव धर्मे प्रमाणम्।

यदि कोई पूछे कि तुम्हारी वेद-ज्ञान में इतनी भक्ति कैसे? तब हम उसी से पूछते हैं कि वेदार्थ-ज्ञान से तुम्हारा इतना द्वेष कैसे? वेदार्थ-ज्ञान की प्रशंसा के हमने अनेक उदाहरण दिए हैं, वेदार्थ-ज्ञान की निन्दा तो हमें कहीं भी नहीं मिली। जिस प्रकार कर्म से उत्पन्न अपूर्व मरने के पश्चात् जीव के साथ जाता है, उसी प्रकार विद्या से उत्पन्न भी अपूर्व जाता है। जैसा कि वाजसनेयी शाखा के अध्येता कहते हैं—'परलोक में गमन करते हुए उस आत्मा का विद्या और कर्म अनुगमन करते हैं और पूर्वजन्म की बुद्धि भी'। इसलिए अध्ययन की तरह अर्थज्ञान का भी विधान होने से अर्थज्ञान के लिए वेद की व्याख्या करनी चाहिए।

अनुबन्ध-चतुष्टय का निरूपण

विषय, प्रयोजन, संबन्ध और अधिकारी के ज्ञान के बिना श्रोता की प्रवृत्ति न होने से व्याख्यान के विषय आदि का निरूपण किया जाता है। व्याख्येय वेद व्याख्यान का विषय है। उस वेद का अर्थज्ञान प्रयोजन है। व्याख्यान और वेद में व्याख्यानव्याख्येयभाव संबन्ध है। अर्थज्ञान का इच्छुक व्यक्ति व्याख्यान का अधिकारी है। यद्यपि इतना (व्याख्यान का अनुबन्ध-चतुष्टय) प्रसिद्ध है तथापि वेद के विषयादि के अभाव में व्याख्यान के भी विषयादि संभव नहीं हो सकते। इसलिए वेद का अनुबन्ध-चतुष्टय बतलाया जाता है।

वैयासिकस्य तृतीयसूत्रस्य द्वितीयवर्णके ब्रह्मणः सिद्धवस्तुनोऽपि शास्त्रैकविषयत्वं भाष्यकृद्भिर्व्याख्यातम्—'शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः'। (ब्र० सू० शां० भा० १।१।३) इति। श्रुतिश्च भवति—'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति। तत्रोपपत्तिः पूर्वाचार्यैरेवमुदीरिता—'रूपलिङ्गादिराहित्यान्न मानान्तरयोग्यता' (वै० न्या० १।१।३।१८) इति। तस्मात् अनन्यलभ्यत्वादस्ति धर्मब्रह्मणोर्वेदविषयत्वम्।

तदुभयज्ञानं वेदस्य साक्षात् प्रयोजनम्। न च तस्य ज्ञानस्य 'सप्तद्वीपा वसुमती', 'राजासौ गच्छति' इत्यादिज्ञानवत् अपुरुषार्थपर्यवसायित्वं शङ्कनीयम्। धर्मप्रयुक्तस्य पुरुषार्थस्य स्तूयमानत्वात् 'धर्मो विश्वस्य

वेद के पूर्वकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड का क्रमशः धर्म और ब्रह्म विषय है क्योंकि धर्म और ब्रह्म अनन्यलभ्य हैं अर्थात् वेद के अतिरिक्त किसी अन्य साधन से धर्म और ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। जैसा कि पुरुषार्थानुशासन में सूत्रित है–'धर्म और ब्रह्म को एकमात्र वेद से ही जाना जाता है। और जैमिनि के द्वितीय सूत्र में 'चोदना ही अर्थात् वेद ही धर्म में प्रमाण है, चोदना (वेद) प्रमाण ही है' इन दो नियमों को संप्रदायविदों ने कहा है। 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' (चोदना ही धर्म में प्रमाण है) इस अर्थ का उपपादन करने के लिए चतुर्थ सूत्र में धर्म का प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होना निराकृत किया गया है 'प्रत्यक्ष धर्म के विषय में प्रमाण (निमित्त) नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष विद्यमान पदार्थ का ही उपलम्भन (प्राप्ति, ज्ञान) करता है'। अनुष्ठान के उपरान्त उत्पन्न होने वाला धर्म पूर्व में अविद्यमान होता है अतः इसमें प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं है। उत्तरकाल में भी रूप आदि से रहित होने के कारण वह इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जाता। अतएव लोग धर्म को अदृष्ट कहते हैं। लिङ्ग (हेतु) से रहित होने के कारण धर्म अनुमान का भी विषय नहीं है। यदि कोई कहे कि सुख और दुःख धर्म और अधर्म के अनुमापक हेतु हैं (अर्थात् जहाँ सुख होता है वहाँ धर्म है और जहाँ दुःख है वहाँ अधर्म है), तो हमें यह बात स्वीकार है किंतु यह लिङ्गलिङ्गिभाव (धर्म की सुखहेतुता और अधर्म की दुःखहेतुता) वेद के द्वारा ही ज्ञात होता है। इसलिए धर्म अनुमान प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि चोदना (वेद) ही धर्म में प्रमाण है।

व्यास की उत्तरमीमांसा के तृतीय सूत्र के द्वितीय वर्णक में भाष्यकारों ने ब्रह्म के सिद्ध वस्तु (जो धर्म के समान उत्पन्न नहीं होता) होने पर भी उसे केवल शास्त्र का विषय होना बतलाया है 'जगत् के जन्मादि का कारण ब्रह्म

जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात् धर्मं परमं वदन्ति' (तै० आ० १०।६३) इति। उद्दण्डस्य राज्ञो नियामकत्वात् विवदमानयोः पुरुषयोर्मध्ये दुर्बलस्यापि राजसाहाय्यवत् जयहेतुत्वाच्च धर्मः पुरुषार्थः। तथा च वाजसनेयिनः सृष्टिप्रकरणे समामनन्ति—'तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथोऽबलीयान्बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवम्' (बृ० उ० १४।१४) इति। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० आ० ८।२), 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं० उ० ३।२।६) 'तरति शोकमात्मवित्' (छां० उ० ७।१।३) इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तः पुरुषार्थः

शास्त्र-प्रमाण से ही ज्ञात होता है, यह अभिप्राय है'। श्रुति भी है 'वेद को न जानने वाला उस बृहत् तत्त्व को नहीं जान सकता'। पूर्व आचार्यों ने इसकी उपपत्ति इस प्रकार कही है 'रूप, लिङ्ग आदि से रहित होने के कारण ब्रह्म में अन्य प्रमाणों का विषय होने की योग्यता नहीं है'। इसलिए अनन्यलभ्य (अन्य प्रमाणों के द्वारा लभ्य न) होने से धर्म और ब्रह्म केवल वेद के विषय हैं।

उन दोनों (धर्म और ब्रह्म) का ज्ञान वेद का साक्षात् प्रयोजन है। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि धर्म तथा ब्रह्म का ज्ञान 'सप्तद्वीपा वसुमती' (पृथ्वी सात द्वीपों वाली है) और 'राजासौ गच्छति' (यह राजा जाता है) इत्यादि ज्ञान की तरह अपुरुषार्थ में पर्यवसित हो जाता है, क्योंकि धर्म से होने वाले पुरुषार्थ की स्तुति की गई है—'धर्म संपूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा (आधार) है, संसार (लोक) में लोग (प्रजा) धर्मात्मा (धर्मिष्ठ) के समीप जाते हैं, धर्म के द्वारा लोग अपने पाप को नष्ट करते हैं, धर्म में सब कुछ प्रतिष्ठित है इसलिए धर्म को सर्वोपरि (सर्वश्रेष्ठ) बतलाया गया है'। दण्ड देने में सतत तत्पर राजा का नियामक (नियन्त्रण करने वाला) होने से तथा झगड़ते हुए दो पुरुषों के मध्य में राजसाहाय्य (राजा की सहायता) की तरह दुर्बल की भी जय का हेतु होने से धर्म पुरुषार्थ है। जैसा कि वाजसनेयी संहिता के अध्येता सृष्टिप्रकरण में कहते हैं-'श्रेयोरूप धर्म की सृष्टि की। यह धर्म क्षत्रिय (अर्थात् नियन्ता) का भी नियन्ता है। इसलिए धर्म से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है। धर्म की सहायता से दुर्बल भी बलवान् को पराजित कर देता है, जैसे राजा के अवलम्बन से कर देता है'। 'ब्रह्मवित् परम तत्त्व को प्राप्त कर लेता है', 'जो ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्मरूप हो जाता है', 'आत्मवित् शोक को पार कर जाता है' इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्मज्ञान से होने वाला पुरुषार्थ प्रसिद्ध है। इन दोनों ज्ञानों (धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान) की इच्छा करने वाला पुरुष वेद में

प्रसिद्धः । तदुभयज्ञानार्थी वेदेऽधिकारी । स च त्रैवर्णिकः पुरुषः । स्त्रीशूद्रयोस्तु सत्यामपि ज्ञानापेक्षायामुपनयनाभावेन अध्ययनराहित्यात् वेदेऽधिकारः प्रतिबद्धः । धर्मब्रह्मज्ञानं तु पुराणादिमुखेनोत्पद्यते । तस्मात् त्रैवर्णिकपुरुषाणां वेदमुखेनार्थज्ञानेऽधिकारः ।

संबन्धस्तु वेदस्य धर्मब्रह्मभ्यां सह प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः । तदीयज्ञानेन सह जन्यजनकभावः । त्रैवर्णिकपुरुषैः सहोपकार्योपकारकभावः । तदेवं विषयाद्यनुबन्धचतुष्टयमवगत्य समाहितधियः श्रोतारो वेदव्याख्याने प्रवर्तन्ताम् ।

अतिगम्भीरस्य वेदस्यार्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि । अत एव तेषामपरविद्यारूपत्वं मुण्डकोपनिषद्याथर्वणिका आमनन्ति— 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मुं० उ० १।१।४-५) इति साधनभूतधर्मज्ञानहेतुत्वात् षडङ्गसहितानां कर्मकाण्डानामपरविद्यात्वम् । परमपुरुषार्थभूतब्रह्मज्ञानहेतुत्वात् उपनिषदां परविद्यात्वम् ।

अधिकारी होता है । और वह त्रैर्वणिक पुरुष (तीन वर्णों में से) ही हो सकता है । [स्त्री और शूद्र को ज्ञान की अपेक्षा होने पर भी उनका वेद में अधिकार निषिद्ध किया गया है क्योंकि उपनयन संस्कार न होने के कारण वे वेद का अध्ययन नहीं कर सकते । उनको धर्म और ब्रह्म का ज्ञान पुराणादि के द्वारा उत्पन्न होता है । इसलिए तीन वर्णों के पुरुषों का ही वेद के द्वारा अर्थज्ञान में अधिकार है ।

वेद का धर्म और ब्रह्म के साथ प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव संबन्ध है (धर्म और ब्रह्म प्रतिपाद्य हैं और वेद प्रतिपादक है) । धर्म और ब्रह्म के ज्ञान के साथ वेद का जन्यजनक भाव संबन्ध है (वेद जनक, ज्ञान जन्य), तीन वर्णों के पुरुषों के साथ उपकार्योपकारकभाव संबन्ध है (वेद उपकारक, त्रैर्वणिक पुरुष उपकार्य) । इस प्रकार विषयादि अनुबन्धचतुष्टय को जानकर बुद्धि को एकाग्र करके श्रोता लोग वेद के व्याख्यान में प्रवृत्त होंवे ।

वेद के अङ्ग

अति गम्भीर वेद के अर्थ-ज्ञान के लिए शिक्षादि छः अङ्ग प्रवृत्त हैं । अत एव आथर्वणिकों ने मुण्डकोपनिषद् में उनके अपर विद्या होने के रूप को कहा है-'ब्रह्मज्ञानी दो विद्याओं को ही जानने योग्य बताते हैं, उनमें एक परा और

वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा। तथा च तैत्तिरीया उपनिषदारम्भे समामनन्ति–'शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलं, साम, संतान इत्युक्तः शीक्षाध्यायः' (तै० उ० १।१) इति। वर्णोऽकारादिः। स च अङ्गभूतशिक्षाग्रन्थे स्पष्टमुदीरितः—

त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भूमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा॥

(पा० शि० ३) इत्यादिना।

स्वर उदात्तादिः। सोऽपि तत्रोक्तः--

'उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः' (पा० शि० ११) इति। मात्रा ह्रस्वादिः। सापि तत्रोक्ता--

'ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि' (पा० शि० ११) इति।

बलं स्थानप्रयत्नौ। तत्र 'अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्' (पा० शि० १३) इत्यादिना प्रयत्न उक्तः।

सामशब्देन साम्यमुक्तम्। अतिद्रुतातिविलम्बितगीत्यादिदोषराहित्येन माधुर्यादिगुणयुक्तत्वेन चोच्चारणं साम्यम्। 'गीती शीघ्री शिरःकम्पी'

दूसरी अपरा कही जाती है। अपरा विद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आते हैं। परा विद्या वह है जिसके द्वारा वह अविनाशी परमेश्वर जाना जाता है। साधनभूत धर्म के ज्ञान के हेतु होने से छः अङ्गों सहित कर्मकाण्डों को अपरा विद्या कहा जाता है। परमपुरुषार्थभूत ब्रह्मज्ञान के हेतु होने से उपनिषदों को परा विद्या कहा जाता है।

शिक्षा

वह शास्त्र जिसमें वर्ण, स्वर आदि के उच्चारण के प्रकार का उपदेश किया जाता है उसे 'शिक्षा' कहा जाता है। जैसा कि तैत्तिरीय शाखा के अध्येता तैत्तिरीय उपनिषद् के आरम्भ में कहते हैं—'शिक्षा का व्याख्यान करेंगे। वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, संतान—ये छः शिक्षा के विषय हैं'। अकारादि वर्ण हैं। और उसको वेदाङ्ग शिक्षा-ग्रन्थ में स्पष्ट कहा गया है—'शम्भु (महादेव) के मत में तिरसठ या चौंसठ वर्ण माने गए हैं। प्राकृत में और संस्कृत में भी स्वयंभू ने उन्हें स्वयं कहा है'।

उदात्तादि स्वर हैं। उस स्वर के विषय में भी वहीं कहा गया है—'उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—ये तीन स्वर हैं'।

(पा० शि० ३२) इत्यादिना 'उपांशु दष्टं त्वरितम्' (पा० शि० ३५) इत्यादिना च दोषा उक्ताः। 'माधुर्यमक्षरव्यक्तिः' (पा० शि० ३३) इत्यादिना गुणा उक्ताः।

संतानः संहिता। 'वायवायाहि' (ऋ० सं० १।२।१) इत्यत्र अवादेशः। 'इन्द्राग्नी आ गतम्' (ऋ० सं० ३।१२।१) इत्यत्र प्रकृतिभावः। एतच्च व्याकरणेऽभिहितत्वात् शिक्षायामुपेक्षितम्। शिक्ष्यमाणवर्णातिवैकल्ये बाधस्तत्रोदाहृतः—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' ॥
(पा० शि० ५२) इति।

'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' (तै० सं० २।४।१२।१) इत्यस्मिन्मन्त्रे इन्द्रस्य शत्रुर्घातकः इत्यस्मिन् विवक्षितेऽर्थे तत्पुरुषसमासे 'समासस्य' (पा० सू० ६।१।२२३) इति सूत्रेण तत्पुरुषत्वात् अन्तोदात्तेन भवितव्यम्। आद्युदात्तस्तु प्रयुक्तः। तथा सति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन बहुव्रीहित्वात् इन्द्रो

ह्रस्वादि मात्रा हैं। मात्रा का भी वहीं कथन है—'ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये मात्रायें काल (समय) के नियम के अनुसार अच् (स्वर) में होती है'।

'स्थान और प्रयत्न को बल कहा जाता है। 'वर्णों के आठ स्थान हैं' इत्यादि के द्वारा स्थान बतलाया गया है। 'अच् अस्पृष्ट है, यण् ईषत्स्पृष्ट है' इत्यादि के द्वारा प्रयत्न बतलाया गया है।

साम का अर्थ है साम्य। अतिद्रुत, अतिविलम्बित, गीती आदि दोषों से रहित तथा माधुर्य आदि गुणों से युक्त उच्चारण को साम्य कहते हैं। 'गीती शीघ्री शिरःकम्पी' इत्यादि के द्वारा और 'उपांशु दष्टं त्वरितम्' इत्यादि के द्वारा दोषों का कथन किया गया है। 'माधुर्यमक्षरव्यक्तिः' इत्यादि के द्वारा गुणों का कथन किया गया है।

संतान का अर्थ है संहिता अर्थात् पदों की अतिशय सन्निधि। 'वायो। आयाहि' इन दो स्वतन्त्र वैदिक पदों का एक ही वाक्य में साथ-साथ उच्चारण होने पर संधि के कारण 'वायवायाहि' रूप होगा। यहाँ पर अव् आदेश हुआ है। 'इन्द्राग्नी आगतम्' में प्रकृतिभाव हुआ है। व्याकरणशास्त्र में इस विषय का विशेष रूप से कथन हुआ है, इसलिए शिक्षा में इस विषय की उपेक्षा की गई है। शिक्षा के नियमों के अनुसार वर्णों के शुद्ध उच्चारण न किए जाने पर जो दोष होता है उसको बतलाने के लिए उसी शिक्षा ग्रन्थ में यह उदाहरण दिया

घातको यस्य इत्यर्थः संपन्नः। तस्मात् स्वरवर्णाद्यपराधपरिहाराय शिक्षाग्रन्थोऽपेक्षितः।

कल्पस्तु आश्वलायनापस्तम्बबोधायनादिसूत्रम्। कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्रेति व्युत्पत्तेः।

ननु आश्वलायनः किं मन्त्रकाण्डमनुसृत्य प्रवृत्तः किं वा ब्राह्मणमनुसृत्य। नाद्यः। 'दर्शपूर्णमासौ तु पूर्वं व्याख्यास्यामः' (आश्व० श्रौ० सू० १।१) इत्येवं तेनोपक्रान्तत्वात्। न हि 'अग्निमीळे' (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादयो मन्त्रा दर्शपूर्णमासयोः क्वचिद्विनियुक्ताः। न द्वितीयः 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालम्' (ऐ० ब्रा० १।१) इत्येवं दीक्षणीयेष्टेः ब्राह्मणे प्रक्रान्तत्वात्।

अत्रोच्यते–मन्त्रकाण्डो ब्रह्मयज्ञादिजपक्रमेण प्रवृत्तो न तु यागानुष्ठानक्रमेण। ब्रह्मयज्ञश्चैवं विहितः–'यत् स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः' (तै० आ० २।१०) इति। सोऽयं ब्रह्मयज्ञजपः 'अग्निमीळे' इत्याम्नायक्रमेणैवानुष्ठेयः। तथा सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि 'वाचः स्तोमे पारिप्लवं शंसति' इति विधीयते। तथाश्विने शस्यमाने 'सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात्' (आप०

गया है 'जो मन्त्र स्वर से या वर्ण हीन से होता है वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का कथन नहीं करता। वह तो वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर देता है, जिस प्रकार स्वर के अपराध से 'इन्द्रशत्रु' शब्द यजमान का ही विनाशक बन गया।' 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इस मन्त्र में विवक्षित अर्थ था कि इन्द्र का शत्रु अर्थात् घातक बढ़े। इस प्रकार 'इन्द्रशत्रुः' शब्द में 'इन्द्रस्य शत्रुः' यह षष्ठी तत्पुरुष समास अभीष्ट था और तत्पुरुष होने के कारण इस शब्द को 'समासस्य' सूत्र से अन्तोदात्त होना चाहिए किंतु ऋत्विजों की असावधानता से अन्तोदात्त के स्थान पर आद्युदात्त का उच्चारण किया गया। ऐसा होने पर पूर्वपदप्रकृतिस्वर से यह बहुव्रीहि बन गया और इसका अर्थ हो गया 'इन्द्र है घातक जिसका'। इस प्रकार स्वर के दोष से वृत्र मारा गया। इसलिए स्वर, वर्ण आदि के अपराधों के परिहार के लिए शिक्षाग्रन्थ अपेक्षित है।

कल्प

आश्वलायन, आपस्तम्ब, बौधायन आदि के सूत्रों को 'कल्प' कहा जाता है। कल्प की व्युत्पत्ति है 'इसमें याग के प्रयोग की कल्पना अथवा समर्थन किया जाता है'।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि आश्वलायन श्रौतसूत्र के निर्माता

श्रौतसूत्र १४।१।२) इति विधीयते। तथा 'रिच्यत इव वा एष प्रेवरिच्यते, यो याजयति प्रति वा गृह्णाति याजयित्वा प्रतिगृह्य वानश्नन् त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत' (तै० आ० २।१६) इति प्रायश्चित्तरूपं वेदपारायणं विहितम्। इत्यादिषु कृत्स्नमन्त्रकाण्डविनियोगेषु संप्रदायपारंपर्यागत एव क्रम आदरणीयः।

विशेषविनियोगांस्तु मन्त्रविशेषाणां श्रुतिलिङ्गवाक्यादिप्रमाणान्युपजीव्य आश्वलायनो दर्शयति। अतो मन्त्रकाण्डक्रमाभावेऽपि न कश्चिद्विरोधः।

'इषे त्वा' इत्यादिमन्त्रास्तु क्रत्वनुष्ठानक्रमेणैवाम्नाता इत्यापस्तम्बादयस्तेनैव क्रमेण सूत्रनिर्माणे प्रवृत्ताः। आम्नातत्वादेव जपादिष्वपि स एव क्रमः। यद्यपि ब्राह्मणे दीक्षणीयेष्टिरुपक्रान्ता, तथापि तस्या इष्टेर्दर्शपूर्णमासविकृतित्वेन तदपेक्षत्वात् आश्वलायनस्य आदौ तद्व्याख्यानं युक्तम्। अतः कल्पसूत्रं मन्त्रविनियोगेन क्रत्वनुष्ठानमुपदिश्य उपकरोति।

आश्वलायन क्या मन्त्रकाण्ड का अनुसरण करके प्रवृत्त हैं या ब्राह्मण का अनुसरण करके? प्रथम इसलिए नहीं कि 'दर्शपूर्णमासौ तु पूर्वं व्याख्यास्यामः' के अनुसार आश्वलायन ने दर्श और पूर्णमास की व्याख्या से अपने श्रौतसूत्र को प्रारम्भ किया है। 'अग्निमीळे' इत्यादि मन्त्र दर्श और पूर्णमास में कहीं भी विनियुक्त नहीं है। द्वितीय भी नहीं हो सकता क्योंकि 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालम्' के अनुसार ब्राह्मण दीक्षणीया इष्टि से प्रारम्भ हुआ है।

इसका उत्तर देते हैं। मन्त्र-काण्ड ब्रह्मयज्ञादि के जप के क्रम से प्रवृत्त हुआ है, यागानुष्ठान के क्रम से नहीं। ब्रह्मयज्ञ का विधान इस प्रकार किया गया है 'जो पुरुष एक भी ऋचा, यजुः या साम का स्वाध्याय के रूप में अध्ययन कर लेता है वह ब्रह्मयज्ञ है'। इस ब्रह्मयज्ञ के जप का 'अग्निमीळे' इस आम्नाय-क्रम (मन्त्रक्रम) से अनुष्ठान करना चाहिए। इसी प्रकार सभी ऋचाओं, सभी यजुषों और सभी सामों का 'वाचः स्तोमे पारिप्लवं शंसति' इस वाक्य से विधान किया गया है। उसी प्रकार आश्विन शस्त्र में 'सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात्' (सूर्य उदय न हो तब तक सभी दाशतयी अर्थात् दशमण्डलात्मक ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ कर ले' इस वाक्य से ऋग्वेद की समस्त ऋचाओं का विधान किया गया है। उसी प्रकार 'रिच्यत इव वा एष प्रेवरिच्यते, यो याजयति प्रति वा गृह्णाति. याजयित्वा प्रतिगृह्य वानश्नन् त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत'. (जो धन के लालच से अनुचित यज्ञ करता है और निषिद्ध वस्तु का दान के रूप में

तर्हि 'प्र वो वाजा' (ऋ० सं० ३।२७।१) इत्यादीनां सामिधेनीनामृचामेव विनियोगमाश्वलायनो ब्रवीतु। 'नमः प्रवक्त्रे' (आश्व० श्रौ० सू० १।२) इत्यादयस्त्वनाम्नाताः कुतो विनियुज्यन्ते इति चेत् नायं दोषः। शाखान्तरसमाम्नातानां ब्राह्मणान्तरसिद्धस्य विनियोगस्य गुणोपसंहारन्यायेनात्र वक्तव्यत्वात्। 'सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म' इति न्यायविदः। तस्मात् शिक्षेव कल्पोऽपि अपेक्षितः।

व्याकरणमपि प्रकृतिप्रत्ययाद्युपदेशेन पदस्वरूपतदर्थनिश्चयायोपयुज्यते। तथा च ऐन्द्रवायवग्रहब्राह्मणे समाम्नायते--'वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोऽब्रवीद्वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते। तामिन्द्रो

ग्रहण करता है वह रिक्त हो जाता है अर्थात् समाज में उसका यश नहीं रहता। यदि कोई ऐसा यज्ञ करे अथवा निषिद्ध दान ग्रहण कर ले वह उपवास कर वेद के तीन पारायण कर ले तब इन दोषों से मुक्त हो जाता है। इस स्थल में प्रायश्चित्त के रूप में वेद—पारायण का विधान किया गया है। इस प्रकार के संपूर्ण मन्त्र-काण्ड के विनियोगों में संप्रदाय-परम्परा से आए हुए ही क्रम का आदर करना चाहिए।

मन्त्रविशेषों के विशेष विनियोगों को तो आश्वलायन ने श्रुति, लिङ्ग, वाक्य आदि छः प्रमाणों को आधार (उपजीवी) मानकर दिखलाया है। इसलिए मन्त्र-कांड के क्रम के न होने पर भी कोई विरोध नहीं है।

यजुर्वेद के 'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्र तो यज्ञों के अनुष्ठान के क्रम से ही संहिता में आम्नात हैं, इसलिए आपस्तम्ब आदि सूत्रकार उसी क्रम से सूत्रनिर्माण में प्रवृत्त हुए हैं। संहिता में आम्नात होने के कारण जप आदियों में भी वही क्रम रहेगा। यद्यपि ब्राह्मण में दीक्षणीयेष्टि से प्रारम्भ किया गया है तथापि वह इष्टि दर्श और पूर्णमास की विकृति है इसलिए उसकी अपेक्षा दर्श और पूर्णमास का जो व्याख्यान आश्वलायन ने आदि में किया है वह युक्त है क्योंकि प्रकृति के आधार पर ही तो विकृति का अनुष्ठान किया जाता है। इसलिए सिद्ध हुआ कि कल्प-सूत्र मन्त्रों के विनियोग के द्वारा यज्ञों के अनुष्ठान का उपदेश करके उपकार करता है।

यदि कोई कहे कि 'प्र वो वाजा' इत्यादि सामिधेनी ऋचाओं के विनियोग को आश्वलायन को बतलाना चाहिए; 'नमः प्रवक्त्रे' इत्यादि ऋचायें तो ऋग्वेद

मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते' (तै०सं० ६।४।७।३) इति। 'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादिवाक् पूर्वस्मिन् काले पराची समुद्रादिध्वनिवदेकात्मिका सती अव्याकृता प्रकृतिः प्रत्ययः पदं वाक्यमित्यादिविभागकारिग्रन्थरहिता आसीत्। तदानीं देवैः प्रार्थित इन्द्र एकस्मिन्नेव पात्रे वायोः स्वस्य च सोमरसग्रहण-रूपेण वरेण तुष्टः तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययादिविभागं सर्वत्राकरोत्। तस्मादियं वाक् इदानीमपि पाणिन्यादीमहर्षिभिर्व्याकृता सर्वैः पठ्यते इत्यर्थः।

तस्यैतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्तिके दर्शितः— 'रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्' इति। एतानि रक्षादिप्रयोजनानि प्रयोजनान्तराणि च महाभाष्ये पतञ्जलिना स्पष्टीकृतानि। रक्षार्थं वेदा-नामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यक् वेदान् परिपाल-यिष्यति वेदार्थं चाध्यवस्यति। ऊहः खल्वपि न सर्वैर्लिङ्गैर्न सर्वाभिः

में आम्नात (पठित) नहीं हैं, उनके विनियोग को आश्वलायन क्यों बतलाते हैं? इसका उत्तर यह है कि यह कोई दोष नहीं है। दूसरी शाखा में आम्नात तथा अन्य ब्राह्मण से सिद्ध विनियोग को गुणोपसंहारन्याय से कह देना अनुचित नहीं है। समस्त शाखाओं में विहित अङ्गों को एकत्र कर लेना 'गुणोपसंहार' है। न्यायविदों का मत है कि समस्त शाखाओं से प्रमाणित कर्म एक ही होता है, भिन्न नहीं। भिन्न-भिन्न शाखाओं में वर्णित होने पर कोई कर्म भिन्न-भिन्न नहीं हो जाता अपितु एक ही होता है। अतएव आश्वलायन ने उचित विनियोग किया है। इसलिए शिक्षा की तरह कल्प भी अपेक्षित है।

व्याकरण

प्रकृति, प्रत्यय आदि के उपदेश के द्वारा पद के स्वरूप और अर्थ के निश्चय के लिए व्याकरण का उपयोग है। अतः ऐन्द्र-वायव-ग्रह ब्राह्मण में इस प्रकार कहा गया है—'प्राचीन काल में वाक् अव्याकृत और अस्पष्ट रही। तब देवताओं ने इन्द्र से कहा कि वाक् को हमारे लिए व्याकृत करो। इन्द्र ने कहा मुझे एक वर दो; मुझे और वायु को साथ-साथ सोम दिया जाय। अतः इन्द्र और वायु के लिए एक साथ सोम ग्रहण किया जाता है। तब इन्द्र ने वाक् को मध्य से विच्छेद करके उसे व्याकृत कर दिया। उसी समय से व्याकृत वाक् का उच्चारण होता है।' इस उद्धरण का आशय यह है कि 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि वाक् प्राचीन काल में समुद्र आदि की ध्वनि की भाँति एकरूप होने के कारण अव्याकृत थी। उस समय ऐसे ग्रंथ का अभाव था जिसमें प्रकृति, प्रत्यय, पद और वाक्य

विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः । ते चावश्यं यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमयितव्याः । तान् नावैयाकरणः शक्नोति विपरिणमयितुम् । तस्मादध्येयं व्याकरणम् ।

आगमः खल्वपि 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति । प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम् । प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति । लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम् । बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम । बृहस्पतिश्च वक्ता । इन्द्रश्च अध्येता । दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः । अन्तं च न जगाम । अद्य तु पुनर्यदि परमायुर्भवति स वर्षशतं जीवति तत्र कुतः प्रतिपदपाठेन सकलपदावगमः । कुतस्तरां प्रयोगेण । असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम् । याज्ञिकाः पठन्ति—'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत' इति । तत्र न ज्ञायते किं स्थूलानि पृषन्ति यस्याः

का विभाग किया हो । उस समय देवताओं ने इन्द्र से प्रार्थना की । तब एक ही पात्र में वायु के लिए और अपने लिए सोमरस के ग्रहण करने के वर से प्रसन्न होकर इन्द्र ने उस अखण्ड वाणी को बीच-बीच में विच्छेद करके प्रकृति, प्रत्यय आदि के रूप में सर्वत्र विभक्त कर दिया । इसलिए यह वाणी पाणिनि आदि महर्षियों के द्वारा प्रकृति-प्रत्ययों में विभक्त होकर अब भी लोगों द्वारा पढ़ी जाती है ।

इस व्याकरण के प्रयोजन-विशेष को वररुचि (कात्यायन) ने अपने वार्तिक ग्रन्थ में दिखलाया है—'रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह ये प्रयोजन हैं' । ये रक्षा आदि प्रयोजन और अन्य प्रयोजन महाभाष्य में पतञ्जलि के द्वारा स्पष्ट किए गए हैं । वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए, क्योंकि लोप, आगम, वर्ण-विकार आदि को जानने वाला व्यक्ति ही वेदों का ठीक तरह से परिपालन करेगा और वेदार्थ को समझ सकेगा । ऊह भी प्रयोजन है । वेद में मन्त्र सभी लिङ्गों और सभी विभक्तियों सहित नहीं पढ़े गए हैं । उन्हें यज्ञ करने वाले को अवश्य ही यथाप्रसङ्ग उचित रीति से बदलना चाहिए । व्याकरण न जानने वाला उन्हें बदल नहीं सकता । इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिए ।

आगम (शास्त्र) भी व्याकरण के अध्ययन का (प्रयोजक, प्रेरक) है । शास्त्र है 'ब्राह्मण को बिना कारण (लाभ आदि प्रयोजन-रहित) धर्मस्वरूप छः अङ्गों वाला वेद पढ़ना चाहिए और जानना चाहिए' । वेद के छः अङ्गों में व्याकरण ही प्रधान है और प्रधान में किया हुआ यत्न विशेष फलवान् होता है । और लाघव के लिए भी व्याकरण पढ़ना चाहिए । देवगुरु बृहस्पति ने एक

सा स्थूलपृषती, किंवा स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषतीति । तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति । यदि समासान्तोदात्तत्वं तदा कर्मधारयः, अथ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिरिति ।

इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि । तेऽसुराः । दुष्टः शब्दः । यदधीतम् । यस्तु प्रयुङ्क्ते । अविद्वांसः । विभक्तिं कुर्वन्ति । यो वा इमाम् । चत्वारि । उत त्वः । सक्तुमिव । सारस्वतीम् । दशम्यां पुत्रस्य । सुदेवो असि वरुण इति ।

तेऽसुराः—

तेऽसुराः हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः । तस्मात् ब्राह्मणेन

हजार दिव्य वर्षों तक इन्द्र को प्रतिपदोक्त शब्दों का शब्द-पारायण सुनाया (शब्दों को एक-एक करके पढ़ाया), पर समाप्ति तक न पहुँचे । बृहस्पति जैसा पढ़ाने वाला आचार्य और इन्द्र जैसा पढ़ने वाला शिष्य, एक हजार दिव्य वर्ष पढ़ने का समय, और उस पर भी अध्ययन की समाप्ति न हो सकी । आजकल का तो कहना ही क्या; जो बहुत आयु वाला होता है वह सौ वर्ष जीता है । इसलिए प्रतिपद के पाठ के द्वारा कोई व्यक्ति कैसे सभी पदों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है; उन पदों के प्रयोग करने का तो प्रश्न ही कैसे उठ सकता है । सन्देह की निवृत्ति के लिए भी व्याकरण पढ़ना चाहिए । याज्ञिक (कर्मकाण्डी) लोग पढ़ते हैं--स्थूलपृषती गाय को अग्नि तथा वरुण देवताओं के उद्देश से आलम्भन करे । यहाँ पर 'स्थूलपृषती' इस विशेषण पद के विषय में यह पता नहीं चलता कि इसका 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती' (जिसके शरीर पर स्थूल बिन्दु हैं) यह अर्थ है अथवा 'स्थूला चासौ पृषती' (वह मोटी भी है और बिन्दुमती भी है) यह अर्थ है । जो व्याकरण नहीं जानता वह यहाँ स्वर से निश्चय नहीं कर सकेगा किंतु वैयाकरण जान लेगा कि यदि समास 'स्थूलपृषती' के पूर्वपद (स्थूल) का अपना ही स्वर यहाँ है तो यह बहुव्रीहि है, यदि समास का अन्तिम अच् उदात्त हैं तो यह तत्पुरुष है ।

शब्दानुशासन (व्याकरण) के ये और भी प्रयोजन हैं—तेऽसुराः । दुष्टः शब्दः । यदधीतम् । यस्तु प्रयुंक्ते । अविद्वांसः । विभक्तिं कुर्वन्ति । यो वा इमाम् । चत्वारि । उत त्वः । सक्तुमिव । सारस्वतीम् । दशम्यां पुत्रस्य । सुदेवो असि वरुण इति ।

तेऽसुराः--

वे असुर हेलयः हेलयः (हे अरयोऽरयः-हे शत्रुओं, हे शत्रुओं) करते

न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।

दुष्टः शब्दः—

'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
(पा० शि० ५२)

दुष्टान् शब्दान् मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्।

यदधीतम्—

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

अविज्ञातमनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्।

यस्तु प्रयुङ्क्ते—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावत् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥

हुए (चिल्लाते हुए) पराजित हो गए। इसलिए ब्राह्मण को म्लेच्छ अर्थात् अपशब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जो अपशब्द है वह निश्चय से म्लेच्छ है। हम म्लेच्छ न हों इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

दुष्टः शब्दः—

'स्वर अथवा वर्ण की दृष्टि से दोषयुक्त शब्द मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का कथन नहीं करता। वह तो वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर देता है, जिस प्रकार स्वर के अपराध से 'इन्द्रशत्रुः' शब्द यजमान का ही विनाशक हुआ'। हम दोषयुक्त शब्दों का प्रयोग न करें, इसलिए हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए।

यदधीतम्—

'जो वेदवाक्य आचार्य से पढ़ तो लिया, पर अर्थ नहीं समझा और जो पाठरूप से पुनः-पुनः उच्चारण किया जाता है, वह कभी भी नहीं जलता अर्थात् अपने अर्थ को प्रकाशित नहीं करता, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अग्निरहित प्रदेश में फेंका हुआ शुष्क काष्ठ नहीं जलता।'

हम अविज्ञात अर्थात् बिना अर्थ समझे अध्ययन न करें, इसलिए हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए।

यस्तु प्रयुङ्क्ते—

'जो कुशल व्यक्ति व्यवहार के समय ठीक-ठीक शब्दों का प्रयोग करता है

कः ? वाग्योगविदेव। यो हि शब्दान् जानाति अपशब्दानप्यसौ जानाति। यथैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः प्राप्नोति अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति। भूयांसो ह्यपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। यथा गौरित्येतस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्येवमादयः। अथ योऽवाग्योगविदज्ञानं तस्य शरणम्। विषम उपन्यासः। नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति। यो ह्यजानन्वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्यात्। एवं तर्हि कः ? अवाग्योगविदेव। अथ यो वाग्योगविद् ज्ञानं तस्य शरणम्।

अविद्वांसः—

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्॥
स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।

वह वाग्योगवित् (वाणी के योग को समझने वाला, शब्द और अर्थ के संबन्ध को समझने वाला) परलोक में अनन्त विजय को प्राप्त करता है। इसके विपरीत वाणी के योग को न जानने वाला व्यक्ति अपशब्दों से दूषित हो जाता है (पाप का भागी होता है)'। कौन ? (पूर्वपक्षी) वाणी के योग को जानने वाला ही, क्योंकि जो शब्दों को जानता है वह अपशब्दों को भी जानता है। जिस प्रकार शब्द-ज्ञान में धर्म है उसी प्रकार अपशब्द—ज्ञान में अधर्म है। अथवा अधर्म अधिक प्राप्त होता है, क्योंकि अपशब्द अधिक हैं, शब्द उनकी अपेक्षा थोड़े हैं। एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश होते हैं। जैसे 'गौ' इस शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश मिलते हैं। अब जो वाणी के योग को नहीं जानता अज्ञान उसकी शरण है अर्थात् उसका अज्ञान उसको पाप लगने से बचा लेगा। (सिद्धान्ती) यह कथन उचित नहीं है। अज्ञान पूर्णरूपेण शरण नहीं हो सकता। क्योंकि जो न जानता हुआ ब्राह्मण की हत्या कर दे अथवा सुरापान करे मैं मानता हूँ कि वह भी पतित हो जायेगा। (पूर्वपक्षी) अच्छा तो अपशब्दों से कौन दूषित होगा ? (सिद्धान्ती) अवाग्योगविद् ही क्योंकि जो वाग्योगविद् है उसका ज्ञान उसकी शरण (रक्षक) है।

अविद्वांसः—

जो अविद्वान् अभिवादन के उत्तर में दिए जाने वाले आशीर्वाद-वाक्य में अभिवादक के नाम को प्लुत करके बोलना नहीं जानते, प्रवास से लौटकर उनके प्रति 'अयमहम्' (यह मैं हूँ) ऐसा कहे जैसा कि स्त्रियों के प्रति कहा जाता है।

विभक्तिं कुर्वन्ति—

याज्ञिकाः पठन्ति—'प्रयाजाः सविभक्तिकाः कर्तव्याः' इति । न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम् । तस्मादध्येयं व्याकरणम् ।

यो वा इमाम्—

यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशो वर्णशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति ।

आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम् ।

चत्वारि—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आविवेश ॥

(ऋ० सं० ४।५८।३)

चत्वारि शृङ्गा चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्रयो अस्य पादास्त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः । द्वे शीर्षे सुपस्तिङश्च । सप्त हस्तासः सप्त विभक्तयः । त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसि च । वृषभो वर्षणात् कामानाम् । रोरवीति रौतिः शब्दकर्मा ।

महो देवो मर्त्या आविवेश । महता देवेन नस्तादात्म्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम् ।

अथवा, चत्वारि—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

(ऋ० सं० १।१६४।४५)

अभिवादक द्वारा किए गए अभिवादन में हमारे प्रति स्त्रियों जैसा व्यवहार न हो, इसलिए हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए ।

विभक्तिं कुर्वन्ति—

याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—प्रयाज-मन्त्रों को विभक्ति-युक्त करना चाहिए । और व्याकरण के बिना प्रयाज-मंत्रों को विभक्तियुक्त नहीं किया जा सकता । इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।

यो वा इमाम्—

जो व्यक्ति इस वाणी का पद, स्वर, अक्षर और वर्ण से ठीक-ठीक उच्चारण करता है वह आर्त्विजीन अर्थात् ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकारी होता है ।

हम ऋत्विक् कर्म कराने के अधिकारी हों, इसलिए, हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए ।

ये मनीषिणः मनस ईषिणो मनीषिणः। गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते न निमिषन्ति। तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। तुरीयं ह वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते।

उत त्वः—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
(ऋ० सं० १०।७१।४)

अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति। अपि खल्वेकः श्रृण्वन्नपि न

चत्वारि—

'चार इसके सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं। तीन स्थानों में बँधा हुआ यह वृषभ जोर से चिल्ला रहा है। महान् देव ने मनुष्यों में प्रवेश किया'। इसके जो सींग कहे हैं वे नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात—ये चार पदराशियाँ हैं। भूत, वर्तमान, भविष्य ये तीन काल इसके तीन पैर हैं। सुप् और तिङ् ये दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ सात हाथ हैं। 'त्रिधा बद्धः' का अर्थ तीन स्थानों में बँधा हुआ है—हृदय, कण्ठ और सिर में। कामनाओं की वर्षा करने से वह वृषभ है। रोरवीति का अर्थ है-शब्द करता है क्योंकि रु धातु का अर्थ है शब्द करना। महान् देव रूप शब्द ने मनुष्यों में प्रवेश किया है। उस महान् देव (शब्द) के साथ हमारा तादात्म्य हो, इसलिए हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए।

अथवा, चत्वारि—

'वाणी चार पदों में परिमित है। इन चार पदों को मनीषी ब्राह्मण ही जानते हैं। तीन भाग गुफा में छिपे हुए हैं और वे चेष्टा नहीं करते। मनुष्य (अवैयाकरण) वाणी के चतुर्थ भाग को ही बोलते हैं'। मन पर अधिकार रखने वाले 'मनीषी' कहे जाते हैं। तीन भाग गुफा में छिपे हुए हैं, वे चेष्टा नहीं करते, पलक भी नहीं मारते। यह वाणी का चतुर्थ भाग है जो मनुष्यों में विद्यमान है (जिसे व्याकरण न जानने वाले साधारण लोग बोलते हैं)।

उत त्वः—

'एक अविद्वान् इस वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता, कोई एक इसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता। वही वाणी किसी एक के प्रति अपने शरीर (स्वरूप) को खोलकर रख देती है, जिस प्रकार सुन्दर वस्त्र पहने हुए, कामना करती हुई स्त्री अपने पति के प्रति अपने शरीर को खोल कर रख देती है (प्रकट कर देती है)।'

शृणोत्येनाम्। अविद्वांसमाहार्धम्। त्वस्मै अन्यस्मै तन्वं विसस्रे तनुं विवृणुते। जायेव पत्य उशती सुवासाः। यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते एवं वाग्विदे स्वम् आत्मानं विवृणुते। वाक् स्वं न विवृणुयात् इत्यध्येयं व्याकरणम्।

सक्तुमिव—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥
(ऋ० सं० १०।७१।२)

सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति। कसतेर्वा स्याद्विपरीतस्य विकसितो भवति। तितउ परिवपनं भवति ततवद्वा तुन्नवद्वा। धीरा ध्यानवन्तो मनसा प्रज्ञानेन वाचमक्रत वाचमकृषत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते। अत्र सखायः सख्यानि संजानते। सायुज्यानि जानते। क्व? य एष दुर्गमो मार्ग एकगम्यो वाग्विषयः। के पुनस्ते? वैयाकरणाः। कुत एतत्? भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि। एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति। लक्ष्मीर्लक्ष्मणात् भासनात्परिवृढा भवति।

एक इस वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता। ऋक् का यह अर्ध भाग अविद्वान् के विषय में कहता है। एक अन्य के लिए अपने शरीर को खोलकर रख देती है। जिस प्रकार पति की कामना करती हुई, सुन्दर वस्त्र पहने हुई पत्नी अपने आप को पति के सामने प्रकट कर देती है, उसी प्रकार वाणी वाणी को जानने वाले के प्रति अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है। वाणी अपने स्वरूप को हमारे लिए प्रकट कर दे, इसलिए हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए।

सक्तुमिव—

'ज्ञानी लोग अपने मन (प्रज्ञान) के द्वारा वाणी को उस प्रकार शुद्ध करके बोलते हैं जिस प्रकार चलनी से छानकर सत्तू को शुद्ध कर दिया जाता है। तब सखा लोग आपस में सायुज्य का अनुभव करते हैं। इनकी वाणी में कल्याणमयी लक्ष्मी निहित होती है'।

सक्तु शब्द 'सच्' धातु से निष्पन्न होता है क्योंकि इसे कठिनता से धोया (साफ किया) जाता है। अथवा कस् धातु को उल्टा करके बन जायेगा क्योंकि विकसित (खिला हुआ सा) होता है। तितउ चलनी होती है। यह विस्तार वाली या छिद्रों वाली होती है। धीर ध्यान वाले (ज्ञानी) मनुष्य को कहते हैं। मनसा का अर्थ है प्रज्ञान से। वाणी को करते हैं का अर्थ है वाणी को खींचते हैं अर्थात् वाणी को शुद्ध करके बोलते हैं। यहाँ पर मित्र लोग (समान

सारस्वतीम्—

याज्ञिकाः पठन्ति—'आहिताग्निरपशब्दं प्रयुञ्जानः प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्' इति।

प्रायश्चित्तीया मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्।

दशम्यां पुत्रस्य—

दशम्यां पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवदाद्यन्तरन्तस्थमभिनिष्ठान्तं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा। कृतं नाम कुर्यान्न तद्धितान्तमिति।

न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

सुदेवो असि—

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥ (ऋ० सं० ८।६९।१२)

सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः। काकुज्जिह्वा। सास्मिन् विद्यते इति काकुदं तालु। सूर्मिः स्थूला लोहप्रतिमेति।

एवं 'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे' इत्यादिवार्तिकोक्तान्यत्रापि प्रयोजनान्यनुसंधेयानि।

स्थान वाले) सखिभाव को जानते हैं। वे सायुज्य को जानते हैं (अनुभव करते हैं) कहाँ ? यह जो केवल ज्ञान से प्राप्त होने वाला दुर्गम वाणी का मार्ग है। वे कौन हैं ? वैयाकरण। यह क्यों ? क्योंकि इनकी वाणी में कल्याणमयी लक्ष्मी निहित होती है। लक्ष्मी को इसलिए लक्ष्मी कहते हैं क्योंकि वह लक्षण करती है, चमकती है। अथवा अधिकार वाली होती है।

सारस्वतीम्—

याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—यदि आहिताग्नि अपशब्द का प्रयोग कर दे तो वह प्रायश्चित्त के निमित्त सरस्वती देवता के लिए इष्टि करे। हमें भी प्रायश्चित्त न करना पड़े; इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिए।

दशम्यां पुत्रस्य—

पुत्र के जन्म से दस दिन बाद उत्पन्न हुए पुत्र का नामकरण संस्कार करे। नाम के आदि का अक्षर घोष हो, बीच में अन्तःस्थ हो तथा अन्त में विसर्ग हो। नाम दो अक्षर वाला अथवा चार अक्षर वाला हो। नाम कृदन्त हो, तद्धितान्त नहीं।

व्याकरण के बिना कृदन्त और तद्धितान्त का ज्ञान नहीं हो सकता इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

सुदेवो असि—

'हे वरुण तुम सुदेव हो, जिसके काकुद (तालु) पर सात नदियाँ

अथ निरुक्तप्रयोजनमुच्यते । अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम् । 'गौः ग्मा ज्मा दमा क्ष्मा क्षमा' इत्यारभ्य 'वसवः वाजिनः देवपत्न्यो देवपत्न्यः' इत्यन्तो यः पदानां समाम्नायः समाम्नातस्तस्मिन् ग्रन्थे पदार्थावबोधाय परापेक्षा न विद्यते । एतावन्ति हिरण्यनामानि इत्येवं तत्र तत्र विस्पष्टमभिहितत्वात् । तदेतन्निरुक्तं त्रिकाण्डम् । तच्चानुक्रमणिकाभाष्ये दर्शितम्—

'आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमं तथा ।
तृतीयं दैवतं चेति समाम्नायस्त्रिधा स्थितः ॥
गौराद्यपारपर्यन्तमाद्यं नैघण्टुकं मतम् ।
जहाद्युल्बमृबीसान्तं नैगमं संप्रचक्षते ॥
अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं देवताकाण्डमुच्यते ।
अग्न्यादिदेवीऊर्जाहुत्यन्तः क्षितिगणो गणः ॥
वाय्वादयो भगान्ताः स्युरन्तरिक्षस्थदेवताः ।
सूर्यादिदेवपत्न्यन्ता द्युस्थाना देवता इति ॥
गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नायमभिधीयते' ॥ इति ॥

(सात विभक्तियाँ) उसी प्रकार बहती हैं जिस प्रकार अग्नि लोहे की खोखली प्रतिमा के अन्दर प्रविष्ट होकर जलती है' । सात विभक्तियों को ही सात नदियाँ कहा गया है । काकुत् का अर्थ है जिह्वा । वह जिसमें रहती है वह है काकुद अर्थात् तालु । सूर्मि का अर्थ है स्थूल लोह प्रतिमा ।

विभक्तियों के सुन्दर उच्चारण से हम सुदेव बनें, इसलिए हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए ।

इसी प्रकार 'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे' इत्यादि वार्तिकों में कहे गए प्रयोजनों को भी यहाँ समझ लेना चाहिए ।

निरुक्त—

अब निरुक्त का प्रयोजन कहते हैं । अर्थ की जानकारी के लिए स्वतन्त्र रूप से (व्याकरण आदि के बिना) जो पदों का संग्रह है वही निरुक्त (निघण्टु) कहलाता है । गौः, ग्मा, ज्मा, दमा, क्षा, क्षमा आदि पदों से लेकर वसवः, वाजिनः, देवपत्न्यः पदों तक अन्त होने वाला जो पदों का समाम्नाय (समूह) पठित है उस ग्रन्थ के पदों के अर्थों के ज्ञान के लिए दूसरे व्याकरण आदि शास्त्रों की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि उसमें स्थल-स्थल पर यह स्पष्ट कह दिया गया है कि पृथिवी के इतने नाम हैं, हिरण्य (सुवर्ण)

एकार्थवाचिनां पर्यायशब्दानां संघो यत्र प्रायेणोपदिश्यते तत्र निघण्टुशब्दः प्रसिद्धः। तादृशेषु अमरसिंहवैजयन्तीहलायुधादिषु दश निघण्टव इति व्यवहारात्। एवमत्रापि पर्यायशब्दसंघोपदेशादाद्यकाण्डस्य नैघण्टुकत्वम्। तस्मिन् काण्डे त्रयोऽध्यायाः। तेषु प्रथमे पृथिव्यादिलोकदिक्कालादिद्रव्यविषयाणि नामानि। द्वितीये मनुष्यतदवयवादिद्रव्यविषयाणि तृतीये तदुभयद्रव्यगतबहुत्वह्रस्वत्वादिधर्मविषयाणि।

निगमशब्दो वेदवाची। यास्केन तत्र तत्र 'अपि निगमो भवति' इत्येवं वेदवाक्यानामवतारितत्वात्। तस्मिन्निगम एव प्रायेण वर्तमानानां शब्दानां चतुर्थाध्यायरूपे द्वितीयस्मिन् काण्डे उपदिष्टत्वात् तस्य काण्डस्य नैगमत्वम्।

के इतने नाम हैं। इस निरुक्त (निघण्टु) में तीन काण्ड हैं जैसा कि अनुक्रमणिका ग्रन्थ के भाष्य में दिखलाया गया है--

'प्रथम नैघण्टुक काण्ड है, द्वितीय नैगम काण्ड है तथा तृतीय दैवत काण्ड है। इस प्रकार इन तीन काण्डों में समाम्नाय स्थित है। गौ से लेकर अपारे तक प्रथम नैघण्टुक काण्ड माना जाता है। 'जहा' 'से लेकर 'उल्बम् ऋबीसम्' तक नैगम काण्ड कहलाता है। अग्नि से लेकर देवपत्नी तक दैवत-काण्ड (देवताओं का काण्ड) कहलाता है। इस दैवतकाण्ड में अग्नि से लेकर देवी ऊर्जाहुती तक पृथिवी-स्थानीय देवताओं का समूह है। वायु से लेकर भग तक अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता हैं। सूर्य से लेकर देवपत्नी तक द्युस्थानीय देवता हैं। गौः से देवपत्नी तक को समाम्नाय कहते हैं।

एकार्थवाची पर्याय शब्दों के समूह का जहाँ प्रायः उपदेश किया जाता है वहाँ निघण्टु शब्द प्रसिद्ध है। क्योंकि उसी प्रकार के अमरसिंह, वैजयन्ती, हलायुध आदि ग्रन्थों को दृष्टि में रखकर व्यवहार किया गया है कि दश निघण्टु हैं। इसी प्रकार यहाँ पर भी पर्याय शब्दों का उपदेश होने से प्रथम काण्ड को नैघण्टुक काण्ड कहा जाता है। उस काण्ड में तीन अध्याय हैं। उनमें से प्रथम अध्याय में पृथिवी आदि लोक तथा दिक् काल आदि द्रव्यों के नाम हैं। दूसरे अध्याय में मनुष्य और उसके अवयव आदि द्रव्यों के नाम हैं। तृतीय अध्याय में उन दोनों प्रकार के द्रव्यों के बहुत्व, ह्रस्वत्व आदि धर्मों के नाम हैं।

निगम शब्द वेद का वाचक है क्योंकि यास्क ने स्थल-स्थल पर 'अपि निगमो भवति' यह कहकर वेद के वाक्यों को उद्धृत किया है। उस निगम (वेद) में

पञ्चमाध्यायरूपस्य तृतीयकाण्डस्य दैवतत्वं विस्पष्टम् ।

पञ्चाध्यायरूपकाण्डत्रयात्मक एतस्मिन् ग्रन्थे परनिरपेक्षतया पदजातस्योक्तत्वात्तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम् । तद्व्याख्यानं च 'समाम्नायः समाम्नातः' इत्यारभ्य 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति' इत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे । तदपि निरुक्तमित्युच्यते, एकैकस्य पदस्य संभाविता अवयवार्थास्तत्र निःशेषेण उच्यन्ते इति व्युत्पत्तेः । तत्र हि, 'चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' इति प्रतिज्ञाय 'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' इति निपातस्वरूपं निरूच्यैवमुदाहृतम् 'नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभयमन्वध्यायं 'नेन्द्रं देवममंसत इति प्रतिषेधार्थीयः' इति; 'दुर्मदासो न सुरायामित्युपमार्थीयः' (निरुक्त १।१।४) इति च । तच्च लोके केवलप्रतिषेधार्थीयस्यापि नकारस्य वेदे प्रतिषेधोपमालक्षणोभयार्थोदाहरणमस्मिन् ग्रन्थेऽवगम्यते । एवं ग्रन्थकारेणोक्ताः तत्तत्पदनिर्वचनविशेषाः तत्तन्मन्त्रव्याख्यानावसरे एवास्माभिरुदाहरिष्यन्ते । न च निर्वचनानां निर्मूलत्वं शङ्कनीयम् । एतद्व्युत्पत्त्यर्थमेव ब्राह्मणेषु पदनिर्वचनानां केषांचिदुक्तत्वात्—'तदाहुतीनामाहुतित्वम्' (ऐत० ब्रा० १।१।२) इति, 'तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते' (ऐत० ब्रा० २।४३) इति,

---

ही प्रायः वर्तमान शब्दों का चतुर्थ अध्यायरूप द्वितीय काण्ड में उपदेश होने से उस काण्ड को नैगम काण्ड कहा जाता है ।

पञ्चम अध्यायरूप तृतीय काण्ड को दैवत काण्ड कहा जाना स्पष्ट ही है ।

पञ्चाध्यायरूप तीन काण्डों वाले इस ग्रन्थ में दूसरे व्याकरण आदि शास्त्रों की अपेक्षा न करके पदों का अर्थ कहे जाने से इस ग्रन्थ को निरुक्त (निघण्टु) कहा जाता है । इस ग्रन्थ का व्याख्यान 'समाम्नायः समाम्नातः' से लेकर 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति' तक द्वादश अध्यायों के द्वारा यास्क ने किया है । वह व्याख्यान भी निरुक्त कहलाता है, क्योंकि उसमें एक-एक पद के संभावित अवयवार्थों को निःशेष रूप से कह दिया गया है । उस निरुक्त ग्रन्थ में 'पदों की चार जातियाँ अर्थात् चार भेद हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात' यह प्रतिज्ञा करके 'ऊँचे नीचे अर्थात् अनेकविध अर्थों में गिरते हैं—इनके अनेक अर्थ होते हैं' इससे निपात का स्वरूप बतलाकर इस प्रकार उदाहरण दिया है 'न' यह निपात लोकभाषा में निषेधार्थ में आता है किंतु वेद में दोनों अर्थों में अर्थात् उपमा में भी और निषेध अर्थ में भी

'यदप्रथयत् तत् पृथिव्याः पृथिवीत्वम्' (तै० ब्रा० १।१।३।६-७) इति च। ग्रन्थकारोऽपि तत्र तत्र स्वोक्तनिर्वचनमूलभूतब्राह्मणानि उदाहरिष्यति। केषांचिन्निर्वचनानां व्याकरणबलेन सिद्धावपि न सर्वेषां सिद्धिरस्ति। अत एव ग्रन्थकार आह—'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च' (निरुक्त १।१५) इति। तस्मात् वेदार्थावबोधायोपयुक्तं निरुक्तम्।

तथा छन्दोग्रन्थोऽप्युपयुज्यते, छन्दोविशेषाणां तत्र तत्र विहितत्वात्। 'तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि प्रातरनुवाकेऽनूच्यन्ते' (तै० ब्रा० १।५।१२।१) इति ह्याम्नातम्। गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगतीत्येतानि सप्त छन्दांसि। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। ततोऽपि चतुर्भिः

आता है। 'नेन्द्रं देवममंसत' (इन्द्र को देवता नहीं माना) यहाँ निषेध अर्थ में 'न' प्रयुक्त है, 'दुर्मदासो न सुरायाम्' (सुरा के पी लेने पर कुत्सित मद वाले पुरुषों की भाँति) यहाँ उपमार्थ में 'न' आया है। इस तरह लोकभाषा में केवल निषेध अर्थ में प्रयुक्त होने वाले नकार का वेद में निषेध और उपमा इन दो अर्थों में प्रयुक्त होने का उदाहरण इस निरुक्त ग्रन्थ में ज्ञात होता है। इस प्रकार ग्रन्थकार यास्क ने जिन-जिन पदों के निर्वचनों को कहा है उन पदों का प्रयोग जिन मन्त्रों में हुआ है उन मन्त्रों के व्याख्यान के अवसर पर हम उन निर्वचनों का उदाहरण देंगे। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि निर्वचन निर्मूल (निराधार) है क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों में पदों के अर्थ की व्युत्पत्ति के लिए कतिपय पदों का निर्वचन कहा गया है—'तदाहुतीनामाहुतित्वम्,' 'तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते,' 'यदप्रथयत तत् पृथिव्याः पृथिवीत्वम्' आदि आदि। ग्रन्थकार यास्क ने भी स्थल-स्थल पर अपने द्वारा कहे गए निर्वचनों के आधारभूत ब्राह्मणों का उदाहरण दिया है। कतिपय निर्वचनों के व्याकरण के अनुसार सिद्ध हो जाने पर भी सब निर्वचनों की व्याकरण के अनुसार सिद्धि नहीं होती है। इसलिए ग्रन्थकार यास्क ने कहा है—'इसलिए यह निरुक्त नामक विद्यास्थान व्याकरण की पूर्ति करने वाला है (व्याकरण का पूरक है) और स्वार्थ (स्वप्रयोजन) अर्थात् वेदार्थ-ज्ञान का साधक है'। अतएव वेद के अर्थ के अवबोध (ज्ञान) के लिए निरुक्त उपयुक्त है।

छन्द :

उसी प्रकार छन्दोग्रन्थ का भी उपयोग है। क्योंकि स्थल-स्थल पर विशेष प्रकार के छन्दों का विधान किया गया है। जैसा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण में आम्नात है 'इसलिए क्रमशः चार-चार अक्षरों से अधिक होने वाले सात छन्दों का प्रातरनु-

अक्षरैरधिकाष्टाविंशत्यक्षरोष्णिक्। एवमुत्तरोत्तराधिका अनुष्टुबादयोऽवगन्तव्याः। तथान्यत्रापि श्रूयते 'गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्यादध्यात्। त्रिष्टुब्भी राजन्यस्य जगतीभिर्वैश्यस्य' (तै० ब्रा० १।१।६।६-७) इति। तत्र मगणयगणादिसाध्यो गायत्र्यादिविवेकश्छन्दोग्रन्थमन्तरेण न सुविज्ञेयः। किंच 'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति। तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' (का० अ० १।१) इति श्रूयते। तस्मात् तद्वेदनाय छन्दोग्रन्थ उपयुज्यते।

ज्योतिषस्य प्रयोजनं तस्मिन्नेव ग्रन्थे विहितम्—'यज्ञकालार्थसिद्धये' (वेदाङ्गज्योतिष ३) इति। कालविशेषविधयश्च श्रूयन्ते 'संवत्सरमेतद् व्रतं चरेत्' (तै० आ० १।३२।१), 'संवत्सरमुख्यं भृत्वा' (तै० सं० ५।६।५।१) इत्येवमादयः संवत्सरविधयः। 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।६-७) इत्याद्या ऋतुविधयः। 'मासि मासि पृष्ठान्युपयन्ति, मासि मासि अतिग्राह्या गृह्यन्ते'

वाक में उच्चारण होना चाहिए'। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये सात छन्द हैं। गायत्री चौबीस अक्षरों की होती है। उससे भी चार अक्षरों से अधिक अर्थात् अट्ठाइस अक्षरों का उष्णिक् होता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर चार-चार अधिक अक्षरों वाले अनुष्टुप् आदि छन्द होते हैं। उसी प्रकार दूसरे स्थल पर भी सुना जाता है—'गायत्री छन्द वाले मन्त्रों से ब्राह्मण का अग्न्याधान करे, त्रिष्टुप् छन्द वाले मन्त्रों से राजन्य (क्षत्रिय) का, जगती छन्द वाले मन्त्रों से वैश्य का'। मगण- यगण आदि के द्वारा साध्य गायत्री आदि का विवेक छन्दोग्रन्थ के बिना सरल नहीं है। और भी कहा गया है 'जिन मन्त्रों का ऋषि, छन्द, देवता और ब्राह्मण विदित नहीं है ऐसे मन्त्रों से जो यज्ञ कराता है अथवा अध्यापन करता है वह स्थाणु होता है, गर्त में गिरता है, नष्ट हो जाता है, अथवा पाप का भागी होता है। इसलिए प्रत्येक मन्त्र में इन बातों को अवश्य जानना चाहिए'। इसलिए छन्दों के ज्ञान के लिए छन्दोग्रन्थ (छन्दों का प्रतिपादक ग्रन्थ) उपयुक्त है।

ज्योतिष

ज्योतिष का प्रयोजन उसी ग्रन्थ में विहित है 'यज्ञ के समय की सिद्धि के लिए'। विशेष-काल की विधियाँ सुनी जाती हैं—'संवत्सरमेतद् व्रतं चरेत्' (यह व्रत एक वर्ष तक रखे), 'संवत्सरमुख्यं भृत्वा' (एक वर्ष तक पात्र में अग्नि रखकर) इत्यादि संवत्सर-विधियाँ हैं। 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे

(तै० सं ७।५।१५) इत्याद्या मासविधयः। 'यं कामयेत वसीयान्त्स्यादिति तं पूर्वपक्षे याजयेत्' (तै० सं० २।२।३।१) इत्याद्याः पक्षविधयः। 'एकाष्टकायां दीक्षेरन्', 'फल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्' (तै० सं० ७।४।८।१) इत्याद्यास्तिथिविधयः। 'प्रातर्जुहोति सायं जुहोति' इत्याद्याः कालविधयः। कृत्तिकास्वग्निमादधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।१) इत्याद्या नक्षत्रविधयः। अतः कालविशेषान् अवगमयितुं ज्योतिषमुपयुज्यते।

एतेषां च वेदार्थोपकारिणां षण्णां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्वं शिक्षायामेवम् उदीरितम्—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥
(पा० शि० ४१-४२) इति।

षडङ्गवत् पुराणादीनामपि वेदार्थज्ञानोपयोगो याज्ञवल्क्येन स्मर्यते—

'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥'
(या० स्मृ० १।३) इति

राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत' (वसन्त में ब्राह्मण अग्नि का आधान करे, ग्रीष्म में राजन्य अग्नि का आधान करे और शरद् में वैश्य अग्नि का आधान करे) इत्यादि ऋतु-विधियाँ हैं। 'मासि मासि पृष्ठान्युपयन्ति' (प्रत्येक महीने में पृष्ठ आते हैं) 'मासि मासि अतिग्राह्या गृह्यन्ते (प्रत्येक महीने में अतिग्रह गृहीत होते हैं) इत्यादि मासविधियाँ है। 'यं कामयेत वसीयान्त्स्यादिति तं पूर्वपक्षे याजयेत्' (जिसको समृद्ध बनाना चाहे उसे शुक्ल पक्ष में यज्ञ करावे) इत्यादि पक्षविधियाँ हैं। 'एकाष्टकायां दीक्षेरन्' एकाष्टका में दीक्षा लें), 'फल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्' (फल्गुनी पूर्णिमा में दीक्षा लें) इत्यादि तिथिविधियाँ हैं। 'प्रातर्जुहोति सायं जुहोति' (प्रातः हवन करे, सायं हवन करे) इत्यादि प्रातःकाल आदि की विधियाँ हैं। 'कृत्तिकास्वग्निमादधीत' (कृत्तिकाओं में अग्नि का आधान करे) इत्यादि नक्षत्रों की विधियाँ हैं। अतः कालविशेषों के ज्ञान के लिए ज्योतिष का उपयोग है।

वेद के अर्थ में उपकार करने वाले इन छ ग्रन्थों का वेदाङ्ग होना शिक्षाग्रन्थ में ही कहा गया है—

'छन्द वेद के पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष चक्षुः है, निरुक्त कान कहा

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति ॥

इत्यन्यत्रापि स्मर्यते। ऐतरेयतैत्तिरीयकाठकादिशाखासूक्तानि हरिश्चन्द्रनाचिकेताद्युपाख्यानानि धर्मब्रह्मावबोधोपयुक्तानि तेषु तेष्वितिहासग्रन्थेषु स्पष्टीकृतानि। उपनिषदुक्ताः सृष्टिस्थितिलयादयो ब्राह्मपाद्मवैष्णवादिपुराणेषु स्पष्टीकृताः।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

इति सृष्ट्यादेः पुराणप्रतिपाद्यत्वावगमात्। न्यायशास्त्रे प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तादीनां षोडशपदार्थानां निरूपणात्। तदनुसारेण इदं वाक्यमस्मिन्नर्थे प्रमाणं भवति, नेतरदिति निर्णयः कर्तुं शक्यते। पूर्वोत्तरमीमांसयोर्वेदार्थोपयोगोऽतिस्पष्ट एव। मन्वत्रिविष्णुहारीतादिप्रोक्तासु स्मृतिषु वेदोक्तसंध्यावन्दनादिविधयः प्रपञ्चिताः। 'तद्ध ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः संध्यायां गायत्र्याभिमन्त्रिता आपः ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति' (तै० आ० २।२) इत्यादिकः संध्यावन्दनविधिः। 'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते' (तै० आ० २।१०) इत्यादिको महायज्ञविधिः। एवं

जाता है। शिक्षा वेद का नाक है, व्याकरण मुख माना गया है। इसलिए अङ्गसहित वेदों को पढ़कर ही ब्रह्मलोक में पूजित होता है'।

छ अङ्गों की भाँति पुराण आदि का भी वेदार्थ में उपयोग याज्ञवल्क्य ने अपने स्मृतिग्रन्थ में बतलाया है—'पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छ वेदाङ्ग तथा चार वेद—ये विद्याओं तथा धर्म के चौदह स्थान हैं'।

अन्यत्र यह कहा गया है 'इतिहास और पुराण की सहायता से वेद का व्याख्यान करना चाहिए। वेद अल्पश्रुत से यह सोचकर डरता है कि कहीं यह मुझ पर प्रहार न कर बैठे'।

ऐतरेय, तैत्तिरीय, काठक आदि शाखाओं में वर्णित हरिश्चन्द्र, नचिकेता आदि के उपाख्यान धर्म और ब्रह्म के ज्ञान के लिए उपयुक्त हैं और उन्हें उन-उन इतिहासग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है। उपनिषदों में वर्णित सृष्टि, स्थिति, लय आदि को ब्रह्म, पद्म, विष्णु आदि पुराणों में स्पष्ट किया गया है। 'सृष्टि, नाश, वंश, मन्वन्तर और वंश-परम्परा ये पाँच पुराण के लक्षण हैं'। इससे ज्ञात होता है कि सृष्टि आदि का पुराणों में प्रतिपादन किया गया है। न्यायशास्त्र में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त आदि सोलह पदार्थों का निरूपण हुआ है। इसलिए न्यायशास्त्र के द्वारा यह निर्णय किया जा

विध्यन्तराणि द्रष्टव्यानि। उक्तप्रकारेण पुराणादीनां वेदार्थज्ञानोपयोगात् विद्यास्थानत्वं युक्तम्। एतैः पुराणादिभिः चतुर्दशभिर्विद्यास्थानैरुपबृंहिताया विद्याया ग्रहणेऽधिकारिविशेषः शाखान्तरगतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैरुपदर्शितः। तांश्च मन्त्रान् यास्क उदाजहार (निरुक्त २।४)।

तत्रायं प्रथमो मन्त्रः—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

विद्याभिमानिनी देवता ब्राह्मणमुपदेष्टारमाचार्यमाजगाम। आगत्य एवं प्रार्थयामास। हे ब्राह्मण, मामनधिकारिणेऽनुपदिश्य पालय। तवाहं

सकता है कि यह वाक्य इस अर्थ में प्रमाण है, अन्य वाक्य नहीं। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का वेद के अर्थ के लिए जो उपयोग है वह तो अति स्पष्ट ही है। मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत आदि द्वारा प्रोक्त स्मृतियों में वेद के द्वारा प्रतिपादित संध्यावन्दनादि विधियों का विस्तार से वर्णन है। 'तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः संध्यायां गायत्र्याभिमन्त्रिता आपः ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति' (ब्रह्मवादी लोग पूर्वाभिमुख होकर गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित जलों को ऊपर की ओर फेंकते हैं) इत्यादि संध्यावन्दन का विधान है। 'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते' (पञ्च महायज्ञ प्रतिदिन किए जाते हैं) इत्यादि महायज्ञ का विधान है। स्मृतियों की मूलभूत ऐसी ही अन्य विधियों को वेद में देखना चाहिए। उक्त प्रकार से पुराण आदि का वेदार्थ के ज्ञान में उपयोग होने से उनका विद्यास्थान होना युक्त है।

इन पुराण आदि चौदह विद्यास्थानों के द्वारा उपबृंहित विद्या के ग्रहण में अधिकारिविशेष का निर्देश अन्य शाखा के चार मन्त्रों के द्वारा किया गया है। उन मन्त्रों को यास्क ने उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। उनमें पहला मन्त्र यह है—

'विद्या ब्राह्मण के पास गई और बोली कि मेरी रक्षा कर। मैं तुम्हारी निधि हूँ। अतः हे ब्राह्मण! तू निन्दक के लिए, कुटिल के लिए, असंयमी के लिए मुझको मत कह (मत पढ़ा)। ऐसा करने पर मैं वीर्यवती हो जाऊँगी'।

विद्या की अभिमानिनी देवता उपदेष्टा तथा आचार्यरूप ब्राह्मण के पास आई। आकर ऐसे प्रार्थना की। हे ब्राह्मण! अनधिकारी के लिए उपदेश न करके मेरी रक्षा कर। मैं तुम्हारी पुरुषार्थहेतु हूँ जैसे निधि होती है। उस प्रकार की मुझ में और मेरे उपदेष्टा तुझमें जो ईर्ष्या करता है और

निधिवत् पुरुषार्थहेतुरस्मि । तादृश्यां मयि तदुपदेष्टरि त्वयि च योऽसूयां करोति । यश्चार्जवेन विद्यां नाभ्यस्यति । योऽपि स्नानाचमनाद्याचार-नियतो न भवति । तादृशेभ्यः शिष्याभासेभ्यो मां न ब्रूयाः । तथा सति त्वद्धृदये स्थित्वा फलप्रदा भवेयम् ।

अथ द्वितीयो मन्त्रः—

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ।। इति ।।

पूर्वस्मिन् मन्त्रे आचार्यस्य नियममभिधाय अस्मिन् मन्त्रे शिष्यस्य नियमोऽभिधीयते । वितथमनृतमपुरुषार्थभूतं लौकिकं वाक्यम । तद्विपरीतं सत्यं वेदवाक्यमवितथम् । तादृशेन वाक्येन य आचार्यः शिष्यस्य कर्णौ आतृणत्ति सर्वतस्तर्दनं पूरणं करोति । उपसर्गवशादौचित्याच्च तृणत्तिधातो-रर्थान्तरे वृत्तिः । सर्वदा वेदं यः श्रावयति इत्यर्थः । किं कुर्वन् ? अदुःखं कुर्वन् । मन्दप्रज्ञस्य माणवकस्य आदौ अर्धर्चमृचं वा ग्रहीतुमशक्तस्य यथा-दुःखं न भवति तथा पादं पादैकदेशं वा ग्राहयन् । किंच अमृतं संप्रयच्छन् । अमृतत्वस्य देवजन्मनो मोक्षस्य वा प्रापकत्वादमृतं वेदार्थः । तस्य प्रदानं कुर्वन् । तं तादृशमाचार्यं सच्छिष्यो मुख्यमातापितृरूपं मन्येत । पूर्वसिद्धौ तु मातापितरौ अधमस्य मनुष्यशरीरस्य प्रदानादमुख्यौ । तस्मै मुख्यमातापितृरूपायाचार्यायैकैकमपि द्रोहं न कुर्यात् ।

जो ऋजु व्यवहार करता हुआ विद्या का अभ्यास नहीं करता और जो स्नान, आचमन आदि आचार में नियमित नहीं है वैसे नाममात्र के शिष्यों को मुझे न बता। ऐसा करने पर तेरे हृदय में स्थित होकर मैं फल प्रदान करने वाली हूँगी।

यह दूसरा मन्त्र है—

'जो गुरु कानों को कष्ट न पहुँचाता हुआ तथा मोक्ष प्राप्ति हेतु ज्ञान को देता हुआ सत्य वेद-ज्ञान से कानों को भर देता है, उस गुरु को पिता और माता समझे तथा उस गुरु से कभी भी द्रोह न करे'।

पूर्व मन्त्र में आचार्य के नियम को कहकर इस मन्त्र में शिष्य के नियम को बतला रहे हैं। वितथ का अर्थ है असत्य अर्थात् अपुरुषार्थभूत लौकिक वाक्य। उसके विपरीत सत्य वेदवाक्य को अवितथ कहा गया है। उस प्रकार के वाक्य के द्वारा जो आचार्य शिष्य के कानों को पूर्णतया वेदवाक्य से भर देता है। उपसर्ग के कारण तथा औचित्य से हिंसार्थक तृणत्ति धातु का दूसरा अर्थ कर लेते हैं, जिससे अर्थ होता है जो सर्वदा वेद को सुनाता है (पढ़ाता है)।

अथ तृतीयो मन्त्रः—

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ।। इति ।

ये तु अधमा विप्रा गुरुणाध्यापिताः सन्तो विनयोक्त्या तदीयहित-चिन्तनेन शुश्रूषया वा गुरुं नाद्रियन्त आदररहितास्ते शिष्याभासा गुरोर्न भोजनीयाः, अनुभवयोग्या न भवन्ति । न हि तेषु गुरुः कृपां करोति । यथैव गुरुणा ते न पालनीयास्तथैव तानधमान् शिष्यान् तत् श्रुतं गुरूपदिष्टं वेदवाक्यं न पालयति, फलप्रदं न भवतीत्यर्थः ।

अथ चतुर्थो मन्त्रः—

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ।। इति ।।

क्या करता हुआ ? दुःख न करता हुआ । आदि में आधी ऋचा को अथवा ऋचा को ग्रहण करने में असमर्थ मन्दप्रज्ञ शिष्य को जैसे दुःख न हो वैसे पाद अथवा पाद के एक देश को ग्रहण कराता हुआ । और भी अमृत प्रदान करता हुआ । अमृतत्व अर्थात् देवजन्म अथवा मोक्ष का प्रापक होने से वेदार्थ को अमृत कहा गया है । उस वेदार्थ को प्रदान करता हुआ । ऐसे उस आचार्य को मुख्य माता-पिता माने । पूर्वसिद्ध माता-पिता तो अधम मनुष्य शरीर के प्रदान करने से अमुख्य हैं । उस मुख्य माता-पिता रूप आचार्य के लिए एक भी द्रोह न करे ।

यह तीसरा मन्त्र है—

'पढ़ाए हुए जो ब्राह्मण वाणी, मन और कर्म से गुरु का आदर नहीं करते, जैसे वे गुरु के काम नहीं आते उसी प्रकार वह पढ़ा हुआ भी उनका पालन नहीं करता (उनके काम नहीं आता)' ।

जो अधम ब्राह्मण गुरु के द्वारा पढ़ाए जाने पर विनय-वाणी से, उनके (गुरु के) हित के चिन्तन से अथवा सेवा करके गुरु का आदर नहीं करते, ऐसे आदररहित नाममात्र के शिष्य गुरु के अनुभवयोग्य नहीं होते क्योंकि उनके ऊपर गुरु कृपा नहीं करता । जिस प्रकार गुरु के द्वारा वे पालनीय नहीं होते, उसी प्रकार उन अधम शिष्यों को गुरु के द्वारा उपदिष्ट वेदवाक्य भी पालन नहीं करता; फलप्रद नहीं होता, यह अर्थ है ।

यह चौथा मन्त्र है—

हे ब्राह्मण, जिसे भी तु पवित्र, प्रमादरहित, मेधावी और ब्रह्मचारी जाने

हे आचार्य, यमेव मुख्यशिष्यं शुचित्वादिगुणोपेतं जानीयाः। किंच यो मुख्यशिष्यस्तुभ्यं कदाचिदपि न द्रुह्येत्। तस्मै तु मुख्यशिष्याय त्वदीयनिधिपालकाय ब्रह्मन् वेदरूपां मां विद्यां ब्रूयाः।

इत्थं विद्यादेवतया प्रार्थितत्वादाचार्येण मुख्यशिष्याय वेदविद्योपदेष्टव्या। तदर्थमृग्वेदोऽस्माभिः षडङ्गानुसारेण व्याख्यायते।

इति ऋग्वेदभाष्यभूमिका समाप्ता॥

और जो कभी भी तुम से द्रोह न करे। उस अपनी निधि (विद्या) की रक्षा करने वाले को मुझको बता (पढ़ा)'।

हे आचार्य, जिस भी मुख्य शिष्य को शुचित्व आदि गुणों से युक्त जानो और जो मुख्य शिष्य तुम्हारे लिए कभी भी द्रोह न करे उस तुम्हारी निधि के पालक मुख्य शिष्य के लिए वेदरूप मुझ विद्या को बता दे।

इस प्रकार विद्या-देवता के द्वारा प्रार्थित होने से आचार्य को मुख्य शिष्य के लिए वेदविद्या का उपदेश करना चाहिए। इसलिए छः अङ्गों के अनुसार हम ऋग्वेद का व्याख्यान करते हैं।

ऋग्वेदभाष्यभूमिका समाप्त हुई।